CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

15.5

५२७5

वैदल्यसूत्रम्

आचार्य नागार्जुन

तिब्बती से पुनर्रचित :
सेम्पा दोरजे

तिब्बती-हिंदी केंद्र
वाराणसी
१९७४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४२७५

आचार्यनागार्जुनप्रणीतम्

वैदल्यसूत्रम्

[तिब्बती से संस्कृत-हिन्दी में रूपान्तरित]

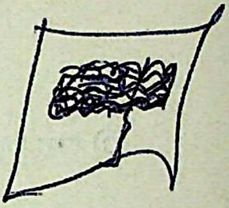

सेम्पा दोर्जे

तिब्बती-हिन्दी केंद्र
वाराणसी
१९७४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

© सेम्पा दोर्जे, १९७४

तिब्बती-हिन्दी केंद्र
काशी विद्यापीठ
वाराणसी–२

मूल्य : ३ रुपया

महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो शब्द

आज ज्ञान-विज्ञान का विकास अपनी पूरी रफ्तार के साथ आगे बढ़ रहा है और हर विद्या के प्रति लोगों की जिज्ञासा बढ़ती जा रहा है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि युगों से चली आ रही परम्परागत भारतीय विद्याओं के प्रति भी लोगों की रुचि और जिज्ञासा बढ़े। यों भारतीय विद्या एवं विद्वानों की काल-सीमा निश्चित करना कठिन है, फिर भी दर्शन और न्याय के क्षेत्र में आचार्य नागार्जुन की कृतियाँ प्रथमतया हमारे सामने आती हैं। दुर्भाग्यवश ऐतिहासिक कारणों से भारतवर्ष से बौद्धों का ज्ञान-सूर्य जब अस्त हो गया, तो साथ ही नागार्जुन की कृतियों ने भी इस देश से बिदा ले ली। सौभाग्यवश आज बौद्धों की परम्परागत विद्याएँ फिर से अपनी मातृभूमि को लौट आयी हैं और आ रही हैं। इनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ (वैदल्य सूत्र) नागार्जुन की एक छोटी सी कृति है।

यह ग्रंथ मूलतः संस्कृत में लिखा हुआ है, पर सम्प्रति संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है। यह तिब्बती भाषा में अनुवाद के रूप में आज भी सुरक्षित है। कुछ मित्रों और सहयोगियों की प्रेरणा से इसे पुनः हमने संस्कृत में रूपान्तरित किया और साथ ही हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। विषय समझाने की दृष्टि से कुछ टिप्पणियाँ भी साथ में देने की चेष्टा की गई है।

यों विषय की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत सुगम नहीं है। इसका अर्थ अतिगंभीर है और गहन तत्त्व-चिंतन के बिना इसे समझना साधारण लोगों के वश की बात नहीं है। दूसरे वाक्यरचना की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ दुरूह है। क्योंकि इसमें विषयों का प्रतिपादन संकेत के रूप में केवल दो-तीन शब्दों के द्वारा ही किया गया है। ऐसी हालत में केवल सूत्र के संकेतात्मक शब्दों के आधार पर नागार्जुन जैसे प्रकाण्ड अधिकारी विद्वान् के मन के भावों को समझना मेरे जैसे लोगों के सामर्थ्य के बाहर है। फिर भी मित्रों के सहयोग और ग्रन्थों की सहायता के आधार पर खगेन्द्र-पतंगन्यायेन कुछ समझने और समझाने का अल्प प्रयास किया गया है।

इतना करने पर भी भाषा के अल्पकालीन अभ्यास के कारण जहाँ तक संस्कृतरूप और उसके अनुवाद का प्रश्न है, बहुत-सी भाषागत त्रुटियाँ रह गई थीं। इन त्रुटियों को दूर करने में और अनुवाद की भाषा को अर्थयुक्त तथा बोधगम्य बनाने में हमारे गुरु प्रो० रामशंकर त्रिपाठी ने अपूर्व योगदान दिया है, जिनका मैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्यन्त आभारी हूँ। समादरणीय प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय और अपने संस्थान के प्राचार्य एस. रिम्पोछे के भी हम वहुत ऋणी हैं, जिन लोगों ने समय-समय पर सहयोग एवं सुझाव दिया और हमें प्रोत्साहित किया। अन्त में श्री कृष्णनाथ जी के प्रति भी हम अपनी कृतज्ञता व्यक्त किये विना नहीं रह सकते, जिन्होंने ही इस कार्य के लिए हमें मूल रूप से प्रेरित किया। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि आगे भी इस तग्ह के कार्यों में आप सव हमें सहयोग देते रहेंगे।

सेम्पा दोर्जे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिका

मनुष्य जाति के बौद्धिक विकास के क्षेत्र में सबसे अधिक योगदान दर्शन एवं न्याय विद्या का रहा है। क्योंकि एक ओर दर्शन तथ्य का अन्वेषण करता है, तो दूसरी ओर न्याय तत्सम्बंधित साधनों का परीक्षण करता है। इस तरह अन्य विद्याओं के समान न्याय विद्या भी मानव चिन्तन की एक महान् उपलब्धि है। इसका अपना स्वतन्त्र इतिहास है। यह कहना मुश्किल है कि यह विद्या कितने वर्षों और कितनी चिन्तन प्रक्रियाओं से गुजरी है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी की धार्मिक एवं सांस्कृतिक महाक्रान्ति के युग में यह विद्या भी अपने स्वतन्त्र अस्तित्व में आ गई थी। इसका प्रमाण गौतम बुद्ध[1] एवं भगवान् महावीर की वाणियों में स्पष्ट रूप से मिलता है। इसके अनन्तर अक्षपाद एवं नागार्जुन जैसे आचार्यों ने भी समय-समय पर इस विद्या के क्षेत्र में प्रवेश किया और इसके अस्तित्व एवं विस्तार के क्षेत्र में अपूर्व योगदान किया है। इन आचार्यों के बाद न्याय विद्या का एक परिमार्जित स्वरूप हमारे सामने आता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि अक्षपाद ने न्याय विद्या को एक स्वतन्त्र स्वरूप प्रदान किया है और नागार्जुन ने इसके विस्तार में अपूर्व योगदान किया है।

यों विचार एवं ज्ञान के विकास का सम्पूर्ण इतिहास यह बताता है कि तत्त्वान्वेषण के सन्दर्भ में ज्ञान एवं विचारों का विकास पक्ष और विपक्ष के संघर्षात्मक विमर्श के आधार पर ही हुआ है। युक्तियों के द्वारा तथ्यात्मक पक्ष की स्थापना और असत् पक्षों के निषेध की सम्पुष्टि में समस्त मानव ज्ञान का इतिहास समाप्त हो जाता है। इस तरह के विकासक्रम में ज्ञान एवं प्रमाण-मीमांसा, ये दो धाराएँ प्रमुख रूप से आगे आती हैं। इसके संक्षिप्त उदाहरण ईसापूर्व प्रथम सदी के आसपास के विभूति एवं प्रतिभा से सम्पन्न लोगों की रचनाओं (न्यायसूत्र एवं वैदल्यसूत्र आदि) में मिलते हैं। इन रचनाओं के बारे में हम आगे विचार करेंगे।

---

१. (क) तार्किकाणामविषयं,····लङ्का० सूत्र १०-४३७ पृ० १३६।
(ख) नैयायिकाश्च तीर्थ्याश्च— „ १०-२२१ पृ० १२२।
(ग) सन्दक, इधेकच्चो सत्था एवं वादी होति····इधेकच्चो सत्था तक्की होति····सन्दक, सत्थुनो वीमंसिस्स सुतक्कितं पि होति, दुत्तक्कितं पि होति, अयं खो भवं सत्था तक्की वीमंसी····। सन्दकसूत्र, मज्झिम-निकाय पृ० २१६, २१९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नागार्जुन : यह तो सर्वविदित है कि आचार्य नागार्जुन महायान दर्शन के प्रवर्तक और महर्षि गौतम न्याय विद्या के संस्थापक थे। यद्यपि परम्परागत मान्यताओं के अनुसार नागार्जुन और गौतम के विषय में कोई खास विवाद नहीं हैं, फिर भी आधुनिक ऐतिहासिक युक्तियों के आधार पर उक्त दोनों आचार्यों के सन्दर्भ में अनेक प्रश्न चिह्न उपस्थित होते हैं। यह विवाद दोनों आचार्यों की ऐतिहासिकता का नहीं, अपितु प्रश्न दोनों आचार्यों के काल एवं रचनाओं का है। यद्यपि इस विवादास्पद समस्या को मोल लेने में मुझे कोई रुचि नही है, फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ (वैदल्यसूत्र) के विषय परिचय के रूप में उक्त-विषयों की संक्षिप्त चर्चा कर देना अपेक्षित जान पड़ता है। आमतौर पर नागार्जुन और गौतम हमारे लिए कोई नये आचार्य नहीं हैं और न न्यायशास्त्र आज हमारी कोई नई उपलब्धि है। फिर भी नये सन्दर्भ में विचारों एवं दृष्टिकोणों के आधार पर कुछ नई बात भी सामने आ सकती है।

यह तो कहा जा चुका है कि नागार्जुन महायान दर्शन के संस्थापक थे। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नागार्जुन से पहले महायान दर्शन नहीं था। राजकुमार सिद्धार्थ ने २९ वर्ष की अवस्था में राजमहल त्यागकर ६ वर्षों तक घोर तपस्या के बाद मध्यममार्ग के आधार पर बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व का लाभ किया था और उसके बाद ४५ वर्षो तक वे लोककल्याण के लिये उपदेश देते रहे। यही उपदेश महायान दर्शन का मूलाधार है। इन उपदेशों में निहित तत्त्वों की व्याख्या ही महायान दर्शन है। कुछ इतिहास लेखकों का कहना है कि बुद्ध के उपदेशों का प्राचीन स्वरूप हीनयान धर्म है और उसका विकृत स्वरूप महायान। परन्तु इस तरह की मान्यताओं में कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं है। ये केवल दन्त-कथाओं पर ही आधृत प्रतीत होते हैं। महासांघिकों का इतिहास महायान इतिहास से मूलतः भिन्न है। सभी थेरवादी परम्परायें पालिभाषा में संगृहीत त्रिपिटक को बुद्धवचन मानती हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि उसमें थेरवादी मान्यताओं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं लिखा है या थेरवादी व्याख्या के अतिरिक्त और कोई व्याख्या नहीं हो सकती है। सारे बोधिसत्त्वों की चर्या एवं सिद्धान्त भी वस्तुतः उसमें संनिहित हैं। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि बुद्ध ने ४५ वर्षों की अवधि नें केवल हीनयान मार्ग का ही उपदेश दिया था। स्वयं बुद्ध ने बोधिसत्त्व मार्ग से बुद्धत्व प्राप्त किया, पर उन्होंने उस मार्ग का उपदेश किसी को नहीं दिया, यह एक विचित्र बात है। बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मैंने जिस मार्ग से जिस तत्त्व का साक्षात्कार किया है, वही लोगों को बताता हूँ। यदि हम एक तटस्थ दर्शक की दृष्टि से देखें तो ये सब बातें मानवीय सीमित दृष्टि एवं असमञ्जस विचारों का ही प्रतिफल प्रतीत होती हैं। संक्षेप में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महायान और हीनयान अथवा बोधिसत्त्व यान, प्रत्येकबुद्ध यान और श्रावक यान बुद्ध के उपदेशों की ही आपसी शाखायें हैं। ये सब कोई दार्शनिक सम्प्रदाय या कोई भिन्न सैद्धान्तिक तत्त्व नहीं है, अपितु विनेय लोगों के आध्यात्मिक विकास के क्रम तथा बौद्धिक योग्यताओं के अनुरूप एक तारतम्य है। इस प्रकार महायान और हीनयान का उद्‌भव समान रूप से तथा एक ही काल (बुद्ध के जीवन-काल) में मानना अधिक युक्तिसंगत होगा। जैसा आर्य मैत्रेयनाथ ने कहा है—

आदावव्याकरणात्समप्रवृत्तेरगोचरात्सिद्धेः।
भावाभावेऽभावात्प्रतिपक्षत्वाद्रुतान्यत्वात् ॥ म० सू०अ० ७।१

ऐसे तो बुद्ध के परिनिर्वाणके बाद ४० वर्षों तक महायानी परम्परा अक्षुण्ण रही है। इसका प्रमाण अनेक ग्रन्थों में मिलता है[1]। किन्तु उसके बाद कुछ ऐतिहासिक कारणों से[2] इस देश में इस मत का विशेष विस्तार नहीं हो पाया। विशेषरूप से प्रज्ञापारमितासूत्रों का पठन-पाठन अत्यन्त गौण हो गया। यद्यपि बोधिसत्त्व की चर्या एवं सिद्धान्त, पर्याप्त मात्रा में पालि त्रिपिटक एवं महासांघिकों के त्रिपिटक में सुरक्षित रहे हैं, पर व्यावहारिक जगत में उनका उपयोग बहुत कम ही रहा। बुद्ध के परिनिर्वाण[3] के बाद आन्तरिक मतभेदों के कारण अनेक निकायों (१८ निकाय) का जन्म हुआ। जब बाद में सभी निकायों में समझौते के आधार पर तृतीय संगीति हुई, जो कनिष्क के काल में हुई थी, तो उसमें विनय पिटक लिपिबद्ध किया गया। अन्य पिटक, जो पहले लिपिबद्ध थे, उन सूत्रों में बहुत से महायान सूत्र विद्यमान थे। उसके बाद महाराज लक्षाश्व के काल में महायान सूत्रों के पठन-पाठन में कुछ विस्तार होने लगा और इसका सामान्यरूप से लोगों में प्रचार होने लगा। यद्यपि ये सूत्र कौन थे, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर परवर्ती अनेक विद्वान् इनमें गण्डव्यूह आदि अधिकांश बोधिसत्त्व के चर्यासम्बन्धी

---

१. महादुन्दुभि सूत्र, महामेघ सूत्र, आदि (तिब्बती कंग्युर)।
२. राजाओं के परस्पर कलह, आदि के कारण (जम्यङ् ज़दपई डुब था, चङ्क्या डुब था तथा भव्य के ग्रन्थों में)।
३. इस में दो मत पाये जाते हैं—एक के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण के १३७ वर्ष बाद और दूसरे मत के अनुसार बुद्ध के परिनिर्वाण के ११६ वर्ष बाद कुसुमपुर (सम्भवतः पटना) नामक नगर में संघ में विवाद आरम्भ हुआ और यह लगभग सौ वर्षों तक चलता रहा। अन्त में कृकीराज स्वप्न-निर्देश सूत्र के आधार पर सभी १८ निकायों में आपस में समझौता हो गया। सभी मतों के आधार पर महाविभाषा नामक ग्रन्थ आबद्ध किया गया (सुम्बा-खनपो, चङ्क्या आदि के ग्रन्थों में)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्र मानते हैं। इन सूत्रों का नये सिरे से अध्ययन होते देखकर वैभाषिकादि अनेक मतावलम्बियों ने उक्त सूत्रों को बुद्धवचन मानने से इन्कार कर दिया[१]।

बुद्ध के परिनिर्वाण की चौथी शताब्दी के अन्तिम काल में यद्यपि कुछ महायान सूत्रों का अध्ययन-अध्यापन अवश्य होता था, परन्तु उस समय यह किसी दार्शनिक सिद्धान्त या मत के रूप में व्यवस्थित नहीं था। ऐसी स्थिति में आचार्य नागार्जुन आते हैं। उन्होंने सभी बुद्धवचनों को एक व्यवस्थित दृष्टि से देखने की चेष्टा की और उनमें सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। अन्त में वे समस्त बौद्ध वाङ्मय को सुनिश्चित दिशा में क्रमबद्ध करने में सफल हो जाते हैं। यहीं से दर्शन अथवा माध्यमिक दर्शन का आरम्भ होता है तथा नागार्जुन एक महान् महायान दार्शनिक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं।

जन्म : यह तो निर्विवाद है कि नागार्जुन का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था और उनका अन्तिम समय भी दक्षिण भारत में ही वीता। यद्यपि नागार्जुन के जन्म के सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक विचारकों ने विभिन्न प्रकार से प्रकाश डाला है और अनेक मत व्यक्त किये हैं, फिर भी सुनिश्चित प्रमाणों के अभाव में समस्या सुलझने की जगह अत्यधिक उलझती ही गयी। उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर यदि कोई निष्कर्ष निकल सके तो उसके लिए लघुचेष्टा की जायेगी। प्राचीन सूत्र ग्रन्थों में जो सामग्री मिलती है, उसके आधार पर संक्षेप विवरण इस प्रकार है—१. महादुन्दुभि[२] सूत्र के अनुसार नागार्जुन का प्रादुर्भाव दक्षिण-भारत में हुआ था। उसमें भविष्यवाणी की गई कि—जब लोगों की आयु अस्सी वर्ष की हो जायगी और तथागत के शासन में अनेक विकार आ जायेंगे, उस समय यह लिच्छिविवंशीय[3] 'नन्द' दक्षिणपथ के अन्धक (आन्ध्र) नामक प्रदेश में कृष्णा नामक नदी के तट पर स्थित वीरण नामक नगर के समीप मालाधर (संभवतः मालवा) नामक स्थान (देहल्ले = देहात में) में कायोरि नामक जाति में जन्म लेंगे। तत्पश्चात् वह प्रवज्या ग्रहण करेंगे और इस सूत्र (महादुन्दुभिसूत्र) में निहित धर्म का शंखनाद करेंगे, महादुन्दुभि का उद्घोष करेंगे—। २. आर्य-

१. यद्यपि इस तरह का मत भव्य एवं चन्द्रगोमी आदि के ग्रन्थों में लिखा है, पर वैभाषिक एवं थेरवादी इतिहास के अवलोकन से यह अधिक स्पष्ट रूप से सामने आता है।

२. इस सूत्र को भव्य, चन्द्रकीर्ति, वोधिभद्र, चोङ्खापा, आदि सभी लोग अपनी अपनी बात के प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं।

३. कहीं इसका नाम लिच्छिविकुमार भी आता है। कुछ लोग इसे 'नन्द' नाम के कारण बुद्ध का प्रधान शिष्य आनन्द मान लेते हैं। पर यह गलत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वादशसाहस्रिक महामेघ सूत्र में भी बुद्ध के परिनिर्वाण के ४ सौ वर्ष बाद उपर्युक्त लिच्छिवि नन्द के दक्षिणपथ में 'नाग' नामक भिक्षु के रूप में प्रादुर्भूत होने का उल्लेख है। आचार्य चोङ्खापा उक्त लिच्छिवि नन्द को सुवर्णप्रभास सूत्र में निर्दिष्ट लिच्छिवि[1] नन्द मानते हैं। ३. आर्यमंजुश्री मूलकल्प में भी उक्त प्रकार का उल्लेख मिलता है। इसमें नाग नामक उक्त भिक्षु की आयु ६०० वर्ष बताई गई हैं। ४. महामेघ सूत्र में दूसरी जगह नाग नामक भिक्षु के विवरण के साथ 'अन्धक (आन्ध्र) नामक प्रदेश के कृष्णानदी के दक्षिण तट पर स्थित श्री गुणाधर (सम्भवतः गुन्टूर) नामक स्थान के भद्रसत्यवाहन (सातवाहन) नामक राजा का विवरण भी मिलता हैं। ५. लङ्कावतार सूत्र[2] में भी नाग नामक भिक्षु (नागार्जुन) का जन्म बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ वर्ष बाद दक्षिणपथ के 'वैदल्य' या वैदली नामक स्थान में होता है।

यह ज्ञात है कि 'वैदल्य' या वैदली नामक स्थान आज उपलब्ध नहीं है। दूसरे उपलब्ध लङ्कावतार सूत्र (मिथिला विद्यापीठ से संपादित १०।१६४–१६५ पृ० ११८) में 'वेदल्यां' यह पाठ है तथा 'वन्मू नंजियों' द्वारा सम्पादित इसी सूत्र (क्यो तो, पृष्ठ २८६) में—'दक्षिणापथदेहल्यां' यह पाठ है। भव्य के प्रज्ञाप्रदीप, वोधिभद्र के ग्रन्थों, चन्द्रकीर्ति के प्रसन्नप्रदीप (गुह्यसमाज तन्त्र की टीका), मध्यमकावतार की स्ववृत्ति तथा अन्य अनेक ग्रन्थों में जहाँ उक्त सूत्र उद्धृत है, उन सब में 'देहल्यां' यह पाठ नहीं है। यद्यपि 'वेदल्यां' की जगह 'वेदव्यां' (सर्प या नाग से सम्बद्ध) और देहल्यां' (देहात) शब्द का प्राचीन होना असम्भव नहीं है। इस तरह की व्याख्या भी हो सकती है। परन्तु उक्त सूत्र के तिब्बती अनुवादों में सर्वत्र 'वेद ग्राम' शब्द ही मिलता है। यह भी कारिकागत अनुवाद में ही मिलता है। उसी कारिका की व्याख्याओं में[3] प्रायः सभी जगह 'वेद' के स्थान पर 'विदर्भ' शब्द का प्रयोग होता है। अर्थात् जहाँ पद्य है, वहाँ 'वेद' और जहाँ गद्य है, वहाँ 'विदर्भ' शब्द प्रायः सभी जगह पाया जाता है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि मूलसूत्र, जो पद्यात्मक हैं, उसके तिब्वती अनुवाद में पद रचना की दृष्टि से 'र्भ' अक्षर को छोड़ दिया गया है और यही कारण है कि गद्यात्मक वाक्यों

---

१. द्र०—मूलमध्यमकारिका की आचार्य सुमतिकीर्ति चोंखापा क्रत टीका, पृ० ४।

२. निर्वृते सुगते पश्चात्कालोऽतीतो भविष्यति।
महामते निबोध त्वं यो नेत्रीं धारयिष्यति॥
दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः।
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः॥—लङ्का० सू० पृ० ११८।

३. व्युत्पत्ति'।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में 'विदर्भ' पढ़ा गया है। अतः यहाँ 'विदर्भ' शब्द ही समीचीन प्रतीत होता है। मूल सूत्र, जो संस्कृत में उपलब्ध है, उसका मूल पाठ भी सम्भवतः 'वेदल्यां' नहीं, अपितु 'वेदर्भ्यां'[1] होगा। एक जगह[2] विदर्भ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है कि यह शब्द वीरण एवं दर्भ जो दोनों तृणविशेष के नाम हैं, के योग से बना है, जिसका अर्थ उक्त तृणों के बहुतायत से उगने का स्थान होता है।

संक्षेप में आचार्य नागार्जुन का जन्म बुद्ध के परिनिर्वाण के चार सौ वर्ष वाद अर्थात् ५ वीं बुद्धाब्दि में दक्षिण भारत में एक सम्पन्न ब्राह्मण कुल में हुआ था। समय के अनुसार वंशगत विद्या के अर्जन के अनन्तर सात वर्ष की अल्प अवस्था में वे नालन्दा महाविहार पहुँचे। वहाँ वे आचार्य सरहपा, जो उस समय के महान सिद्ध माने जाते थे, के शिष्य बने। यहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा तान्त्रिक विद्याओं से प्रारम्भ हुई[3]। कुछ समय के वाद नालन्दा के तत्कालीन महास्थविर 'राहुलभद्र' के उपाध्यायत्व में वे भिक्षु बने और उनका नाम 'श्रीमद्धीधर' रखा गया। उनके बचपन का नाम क्या था, इसका पता नहीं है। 'नागार्जुन' यह नाम उनके लिए बहुत बाद में रखा गया प्रतीत होता है। आचार्य अभयकर गुप्त के अनुसार 'नागार्जुन' यह नाम उनके सिद्धिप्राप्ति के वाद का[4] है। कुछ विद्वानों के अनुसार नागराज के समान धर्मरत्न सम्पत्ति और अर्जुन के समान प्रज्ञा एवं युक्तियों के तीक्ष्ण बाणों से युक्त होने के कारण आचार्यों ने उन्हें नागार्जुन नाम से अलङ्कृत किया है।[5]

अध्ययन : नागार्जुन ने गृहत्याग के वाद नालन्दा महाविहार में बहुत लम्बे समय तक अध्ययन किया। उन्होंने साधारण नीतिशास्त्र से लेकर तन्त्र विद्या अथवा आध्यात्मिक विद्या के सर्वोत्कृष्ट विषयों पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया। आचार्य सरहपा ने उन्हें सर्वप्रथम 'अमितायु' नामक तन्त्र में प्रविष्ट (अभिषिक्त) किया और क्रमशः अपना सारा विद्या एवं ज्ञान का भाण्डार उन्हें सौंप दिया। अन्य अधिकारी विद्वानों से भी उन्होंने दर्शन, न्याय, चिकित्सा, रसायन आदि

---

१. व्युत्पत्ति।
२. 'खल खा छो' के डुब था, जो चीन में लिखा गया है, के तृतीय खण्ड में।
३. इस तरह का विवरण भारतीय महीश्वरभद्र, तिब्वती विद्वान् गोलोचावा, बुस्तोन, तारानाथ आदि के इतिहासों में स्पष्ट उल्लिखित है।
४. वज्रमाला (मण्डल विधि)।
५. इस मान्यता का आधार सम्भवतः प्रसन्नपदा का मंगलाचरण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी प्रकार की विद्याओं का विधिवत् अध्ययन किया। संक्षेप में उस समय नालन्दा महाविहार में जितने शास्त्रों का अध्ययन होता था, उन्होंने उन सबका अध्ययन सम्पन्न किया। इसका प्रमाण केवल इतिहास के पन्नों पर ही नहीं, अपितु उनकी रचनाओं से भी मिलता है। उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

कार्यक्षेत्र : यों, नागार्जुन का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक रहा है, किन्तु पूर्वी कामरूप; उत्तर कुरु और बिहार प्रमुख रूप से उनके कार्यक्षेत्र रहे हैं। फिर भी उनके जीवन का दो तिहाई भाग दक्षिण भारत में ही बीता। जिसका प्रमाण नागार्जुनकोण्डा, धान्यकोट (धान्यकटक) आदि में मिलता है और उन स्थानों के खण्डहर आज भी नागार्जुन के उस इतिहास एवं घटनाओं का वर्णन करते हैं, जो आज से दो हजार वर्ष पहले घटी थीं।

नागार्जुन का काल : आमतौर पर भारतीय संस्कृत साहित्य की काव्य एवं कथात्मक ऐतिहासिक वर्णनप्रणाली और सन्देहात्मक पाश्चात्य दृष्टिकोणों के कारण हमारे प्राचीन साहित्य एवं आचार्यों के इतिहास तथा कालक्रमों के सम्बन्ध में सुनिश्चित निर्णय करना सुगम नहीं है। यही स्थिति आचार्य नागार्जुन तथा उनकी रचनाओं की भी है। नागार्जुन एवं उनके काल के बारे में अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं। पाश्चात्य विद्वानों की आम सहमति है कि नागार्जुन दूसरी और तीसरी ईसवी सदी में हुए थे। श्री 'मेक्स वेलेसर'[१] लंकावतारसूत्र एवं मञ्जुश्री मूलकल्प आदि के नागार्जुन सम्बन्धी विवरणों को सन्देहास्पद बताते हुए नागार्जुन को तीसरी ईसवी सदी तक ले जाते हैं। श्री 'विन्टरनित्ज'[२] के अनुसार नागार्जुन ईसा की तीसरी सदी में थे। श्री 'रिचर्ड एच० राबिसन[३] चीनी एवं अन्य स्रोतों के आधार पर नागार्जुन को बुद्ध की नवीं सदी (ईसा की तीसरी सदी) का बताते हैं। पश्चिमी विचारों से प्रभावित बहुत से भारतीय विद्वान् भी नागार्जुन को ईसा की दूसरी-तीसरी सदी में मानते हैं। उदाहरण के रूप में डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण का कहना है कि नागार्जुन ईसा के २५० से ३२० सदी के थे, क्योंकि नागार्जुन के ग्रन्थों में अक्षपाद के बहुत से वाक्य आते हैं और अक्षपाद का समय १५० ईसा है।[४] अन्य बहुत से विद्वान्[५]

१. लाइफ आफ नागार्जुन, एशिया मेजर, हर्थ एनिवर्सरी, वाल्यूम से पुनः मुद्रित, लीपजिङ्ग १९२२।
२. हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, खण्ड २, पृष्ठ ३४२।
३. अर्ली माध्यमिक इन इंडिया एण्ड चाईना, विस्कांसिन १९६७।
४. हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक (पृष्ठ १६–२६–४७–११२)।
५. चन्द्रशेखर शास्त्री (न्यायविन्दु की प्रस्तावना) आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नागार्जुन के ग्रन्थों पर न्यायसूत्र का प्रभाव बताते हुए नागार्जुन के काल के बारे में डा० विद्याभूषण के मत की पुनरावृत्ति करते हैं। कुछ विद्वान्[1] चौरासी सिद्धों के सन्दर्भ को लेकर नागार्जुन और आर्यदेव को ईसा की ८ वीं सदी तक ले जाते हैं। डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने शून्यवाद का जन्म ईसा की प्रथम-द्वितीय सदी माना है।

उक्त मतों के विपरीत मंजुश्री मूलकल्प, लङ्कावतार सूत्र, श्रीकालचक्र के उत्तरतन्त्र, आर्य द्वादशसाहस्रिक महामेघ सूत्र, महादुन्दुभिसूत्र, आर्यदेव की ज्ञान-सारसमुच्चय वृत्ति, भव्य के ग्रन्थों, चन्द्रकीर्ति के प्रसन्नप्रदीप, मध्यमकावतार की स्ववृति, बुस्तोन, चोङ्खापा आदि सभी एक स्वर से यह कहते हैं कि नागार्जुन का जन्म बुद्ध के परिनिर्वाण के ४०० वर्ष बाद अर्थात् पांचवी बुद्धाब्दि में हुआ था। यद्यपि चीन में कहीं नागार्जुन का जन्म बुद्ध के ७०० वर्ष बाद मानने की भी परम्परा है, पर यह कुछ ग्रन्थों के अनुवाद की त्रुटियों पर आधारित प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ—महादुन्दुभि सूत्र में नागार्जुन-सम्बन्धी भविष्यवाणी में—"बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद अस्सी वर्ष के आयुःकाल में शासन-क्षय के समय"—अर्थात् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद जब लोगों की आयु अस्सी वर्ष की हो जायगी और शासन में बहुत से विकार आ जायंगे, लिखा हुआ है। इस अर्थ के लिए चीनी अनुवाद में "अष्टशते वर्षे" शब्द का उल्लेख है। यहीं भ्रम का कारण है और सम्भवतः यह पाठ की त्रुटि है। "अशीतेः" के स्थान पर "अष्ट-शते" पढ़ लिया गया है, क्योंकि बाद के सभी अनुवादों में "अष्टशते" के प्रसंगों में "अशीति" शब्द की ही बात लिखी है। इसी तरह और भी बहुत सी ऐसी त्रुटियाँ हैं, जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं हैं। इस तरह जहाँ कहीं कुछ वाक्य मिल गये, उन्हें ज्यों का त्यों मानकर किसी अन्य प्रमाण को निराधार बताना युक्तिसंगत नहीं है।

जो लोग नागार्जुन को ७-८ वीं शताब्दि का मानते हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि कुमार जीव ने ४०५ ईसवी में नागार्जुन और आर्यदेव की जीवनी का चीनीभाषा में अनुवाद किया है, जिसका विवरण उपलब्ध है। डा० विद्या-भूषण के मत का आधार नागार्जुन के ग्रन्थों (वैदल्य[2]-सूत्र, विग्रहव्यावर्तनी-आदि) में अक्षपाद के वाक्यों का उल्लेख होना है, परन्तु उल्लिखित न्यायसम्बन्धी वाक्य अक्षपाद के ही हैं, इसका उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने यह भी लिखा है कि नागार्जुन ने जिन न्याय-सम्बन्धी वाक्यों एवं प्रमुख प्रमेयादि

---

१. द्र०—ब्लू एनल्स एवं डा० श्री लालमणि जोशी आदि।

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक—(पृ० १६-२६-४७-११२)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयों का खण्डन किया है, वह न्यायसूत्र के नहीं, अपितु चरकसंहिता में उल्लिखित न्याय वाक्यों का है।[1] इस प्रकार उनके दोनों पक्ष केवल सम्भावनाओं पर ही आधारित जान पड़ते हैं। न्याय सूत्र के रचयिता अक्षपाद ही हैं, इसका भी उन्होंने पर्याप्त प्रमाण नहीं दिया है। प्रोफेसर वेलेसर प्रमुख पश्चिमी विद्वानों ने अपने मत की पुष्टि के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे कोई तथ्यपरक या वस्तुपरक नहीं प्रतीत होतीं। श्री वेलेसर, मञ्जुश्री मूलकल्प और लङ्कावतार के—'दक्षिणापथ-वेदल्यां भिक्षुः........" आदि श्लोकों के अप्रामाणिक होने का कारण क्रमशः उनका चीनी अनुवाद में न होना और प्रथम चीनी अनुवाद में न होना बताते हैं, परन्तु चीनी अनुवाद में न होने और प्रथम चीनी अनुवाद में न होने को किसी ग्रंथ के अप्रामाणिक होने का कारण मानना हास्यास्पद है। सभी चीनी अनुवाद मूल ग्रन्थों के शब्दशः अनुवाद भी नहीं होते। सारे चीनी त्रिपिटक में हम देख सकते हैं कि उनमें कभी मूलग्रन्थगत एक शब्द के स्थान पर तीन चार शब्द भी आते हैं, कभी तीन चार शब्दों की जगह पर एक ही शब्द आता है।

उक्त मतों के विपरीत श्री एडवर्ड कोंजे ने अपने ग्रन्थ (प्रज्ञापारमिता लिट-रेचर) में प्रज्ञापारमिता सूत्रों, जिसका आरम्भ नागार्जुन द्वारा दक्षिण भारत में हुआ था, को ईसापूर्व १०० से ईसवी १०० के बीच में बताया है। दूसरी बात वैपुल्य सूत्रों, जिनके मुख्य प्रचारक नागार्जुन थे, के ईसा पूर्व प्रथम सदी में श्रीलङ्का (सिलोन) पहुँचने तथा ईसा की दूसरी सदी में उनके चीनी भाषा में अनुवाद होने की स्पष्ट सूचना मिलती है।[2] इन प्रमाणों से भी उपर्युक्त सूत्रों, जिनमें नागार्जुन का जन्म बुद्ध के परिनिर्वाण के ४०० वर्ष बाद (४०० वर्ष की समाप्ति पर) होने का उल्लेख है, की पुष्टि होती है। अतः नागार्जुन का समय ईसा पूर्व दूसरी सदी के प्रथम या दूसरे दशक में मानना अयुक्त नहीं होगा। यों नागार्जुन की आयु बहुत लम्बी मानने की परम्परा है।[3] परन्तु रसायनज्ञ एवं सिद्ध आचार्य

---

१. हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लाजिक—(पृ० १६–२६–४७–११३)

२. द्र०—राहुल सांकृत्यायन की—"पुरातत्त्वनिबन्धावली" दूसरा संस्करण (१९५८)।

३. परम्परा के लोग आमतौर पर नागार्जुन की आयु ६०० वर्ष मानते हैं। श्री तारानाथ ने लिखा है कि—आचार्य की आयु ६०० में ७० वर्ष कम मानने वाले और २९ वर्ष कम मानने वाले दो मत हैं। साथ ही यह भी लिखा है कि मेरे गुरु महापण्डित लोग आर्य की आयु (६००,५३०,५७१ आदि) की गणना आधे वर्ष की दृष्टि से अर्थात् आधे वर्ष को एक वर्ष मानकर करते हैं (भारत में सद्धर्म का इतिहास)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की आयु सौ-डेढ़ सौ वर्ष या उससे कुछ अधिक होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस दृष्टि से ईसा की प्रथम शताब्दि में नागार्जुन का मौजूद होना भी असंभव नहीं है। कुछ विद्वान् और इतिहासकार नागार्जुन के काल की समस्या को देखकर दार्शनिक नागार्जुन और तान्त्रिक नागार्जुन को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। यदि प्रबल प्रमाण हो, तो ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु यह पक्ष जलतृणन्याय के अनुसार केवल अपनी ही परम्पराओं की दृष्टि पर आधृत प्रतीत होता है। आर्यदेव, जो नागार्जुन के साक्षात् शिष्य थे, के चर्यासंग्रह (तान्त्रिक व्याख्या), चन्द्रकीर्ति के प्रसन्नप्रदीप (गुह्यसमाज तन्त्र की व्याख्या) में प्रज्ञापार-मिता सूत्र के व्याख्याकार नागार्जुन एवं गुह्यसमाज तन्त्र के व्याख्याकार नागार्जुन एक ही व्यक्ति माने गये हैं। चन्द्रकीर्ति अपने प्रसन्नप्रदीप में उपर्युक्त लङ्कावतार के सूत्र में निर्दिष्ट नागार्जुन का सूत्र और तन्त्र दोनों के व्याख्याकार के रूप में उल्लेख करते हैं। चोङ्खापा आदि अनेक विद्वान् आर्यदेव आदि के मत का समर्थन करते हैं। यों, नागार्जुन नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं, पर आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, अभयकर गुप्त और चोङ्खापा जैसे लोगों को यह भ्रान्ति नहीं है कि सभी नागार्जुन एक हैं या भिन्न। सभी नागार्जुनों को भिन्न-भिन्न मानकर भी चोङ्खापा आदि विद्वान् दार्शनिक नागार्जुन और तान्त्रिक नागार्जुन दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं। ऐसी स्थिति में किसी प्रबल प्रमाण के अभाव में न तो हम उक्त आचार्यों के मतों को काट ही सकते हैं और न दार्शनिक नागार्जुन, तान्त्रिक नागार्जुन और रसायनज्ञ नागार्जुन को भिन्न-भिन्न ही मान सकते हैं।

नागार्जुन की रचनाएँ : नागार्जुन की रचनाओं की भी वही स्थिति है, जो उनके समय की है। तिब्बती तंग्युर नामक संग्रह में नागार्जुन के नाम से १३५ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। चीनी अनुवादों में भी उनके २० ग्रन्थ सुरक्षित बताये जाते हैं। १३५ ग्रन्थों में से १९ स्तोत्र, ३३ दर्शन, ६४ तन्त्र एवं साधनाओं से सम्बन्धित हैं, ११ नीति और ८ चिकित्सा से सम्बन्धित हैं। यह गणना केवल देगे संस्करण के आधार पर है। इन ग्रन्थों के विषय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करना यहाँ सम्भव नहीं है, इसके लिए अलग से अनुसन्धान अपेक्षित है।

यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि नागार्जुन की उपर्युक्त रचनाओं में सभी शतप्रतिशत नागार्जुन की ही हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। इनमें कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जो लिखे तो गये अन्य आचार्यों द्वारा, पर नाम नागार्जुन का है। जैसे मूलमाध्यमिक कारिका की टीका 'अकुतोभया'। यह ग्रन्थ नागार्जुन के नाम से संगृहीत है, पर इसे नागार्जुन का नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके २७वें परिच्छेद में आर्यदेव के चतु:शतक की कारिका अपने मत की पुष्टि के रूप में उद्धृत है। दूसरे बुद्धपालित, भव्य और चन्द्रकीर्ति की व्याख्याओं में उक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थ का नाम तक नहीं है।[1] इसी तरह और भी बहुत से ग्रन्थ हैं, जिनको नागार्जुन का मानने में असामञ्जस्य और दोष दिखलाई देते हैं।

वैदल्य सूत्र : वैदल्य सूत्र नागार्जुन के दार्शनिक ग्रन्थों में से एक छोटी-सी कृति है। यों, माध्यमिक दर्शन के व्याख्यान के सन्दर्भ में नागार्जुन की दो तरह की दृष्टियाँ सामने आती हैं। आगम परक और युक्ति परक। आगमतः तत्त्व-व्याख्या की दृष्टि से उन्होंने सूत्रसमुच्चय की रचना की। इसमें ६६ प्रकार के प्रश्नों को लेकर संक्षिप्त युक्तियों के साथ ६९ सूत्रों से प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं। तर्क एवं युक्तियों के द्वारा तत्त्वव्याख्या के लिए मूलमाध्यमिक कारिका आदि प्रमुख छः ग्रन्थों की रचना की है। यहाँ भी उनके विचारों के दो पहलू दिखलाई पड़ते हैं—साध्य निषेध और साधन का निषेध। इसका तात्पर्य माध्यमिकों के समक्ष तत्त्वनिरूपण की दिशा में प्रमुख बाधक दो तरह की विप्रतिप्रतियाँ होती हैं, साध्यगत विप्रतिपत्ति और साधनगत विप्रतिपत्ति। स्वभावतः सिद्ध वस्तुओं की सत्ता और आत्मादि की कल्पनाओं का खण्डन मूलमाध्यमिक कारिका में साध्यगत विप्रतिपत्तियों के निरास के लिये किया गया है। तथा हि—

न हि स्वभावो भावानां प्रत्ययादिषु विद्यते।
अविद्यमाने स्वभावे परभावो न विद्यते॥ (म० शा० १।५)

के द्वारा स्वभाव का खण्डन किया गया है। इस पर प्रतिपक्ष ने आरोप लगाया कि—

सर्वेषां भावानां सर्वत्र न विद्यते स्वभावश्चेत्।
त्वद्वचनमस्वभावं न निवर्तयितुं स्वभावमलम्॥ (विग्रह० १)

इत्यादि। इस तरह के प्रश्नों के समाधान के रूप में विग्रहव्यावर्तनी की रचना की गई है।

इसी प्रकार मूलमाध्यमिक कारिका के सातवें परिच्छेद में कहा गया है कि—

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा।
तथोत्पादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतम्॥ (म० शा० ७।३४)

इस प्रकार जब उत्पाद, भङ्ग आदि की सत्ता का निषेध किया गया, तो विपक्षियों ने इसमें आगमविरोध का प्रसंग दिया। इसी के प्रतिविधान के रूप में आगमों के आशय एवं अभिप्राय की व्याख्या करते हुए आचार्य ने शून्यता-

---

१. द्र०—चोङ्खापा का नेयार्थनीतार्थविभङ्ग, पृष्ठ १०८। खडुवजे इसे विषय प्रतिपादन की दृष्टि से नागार्जुन का नहीं मानते, क्योंकि उसमें आचार्य के मत से मेल नहीं खानेवाली बहुत-सी बातें हैं। द्रष्टव्य—कलजङ् मिग्चेत।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सप्तति की रचना की। इस प्रकार ये दोनों ग्रन्थ मूलमाध्यमिक कारिका की उपशाखा के रूप में हमारे समक्ष आते हैं।[१]

विमुक्तिपद के लिए और विमुक्ति मार्ग के लिए अन्तद्वयवर्जित मध्यम-प्रतिपदा की आवश्यकता पर बल देने के लिए युक्तिषष्टिका और रत्नावलि इन ग्रन्थों की रचना की गई।

उपर्युक्त साधनगत विप्रतिपत्तियों के निरास के लिए स्वतन्त्र रूप से वैदल्यसूत्र की रचना की गई है। मूल ग्रन्थ संस्कृत में था। यह ग्रन्थ गद्यात्मक एवं सूत्र शैली में रचित हैं। इसमें अन्य ग्रन्थों की तरह प्रारम्भ में मंगलाचरण तथा अन्त में नरिणामना नहीं है। प्रयोजन वाक्य को लेकर इसमें कुल ७२ सूत्र हैं। ईसा की ७वीं सदी के बाद किसी समय इस ग्रन्थ का तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ। सम्भवतः चीनी भाषा में इसका अनुवाद इससे पहले हो चुका था। आज मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। केवल तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। इसी अनुवाद के आधार पर इसका पुनः संस्कृत रूपान्तर एवं हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय : इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय न्याय शास्त्र के १६ पदार्थों का खण्डन है। यही इसका मुख्य प्रयोजन भी है, जैसे कहा गया है—

तर्कज्ञानाभिमानेन वादं यः कर्तुमिच्छति।
तस्याहंकारहानाय वच्मि वैदल्यसूत्रकम् ॥१॥

आगे के सूत्रों में १६ पदार्थों की क्रमशः आलोचना की गई है। दूसरे सूत्र से लेकर १९ वें सूत्र तक लगभग ग्रन्थ का एक तिहाई भाग प्रमाण-प्रमेय के खण्डन में आते हैं। अवशिष्ट अन्य पदार्थों का खण्डन भी 'प्रमाण' के सन्दर्भ में ही होता है। इससे यह तथ्य सामने आता है कि न्यायशास्त्र के पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं, साध्य और साधन। यहाँ साध्य के रूप में केवल 'प्रमाण' है और शेष पदार्थ साधनमात्र हैं। यद्यपि न्यायसूत्रकार ने निःश्रेयस के अधिगम (लाभ) को साध्य या प्रयोजन बताया है,[१] पर यह प्रयोजन नहीं, अपितु प्रयोजन का प्रयोजन है। यों, वर्तमान न्यायसूत्र में आत्मादि प्रमेय को 'साध्य' और शेष प्रमाणादि पदार्थों को 'साधन' के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है, परन्तु यह न्याय की दृष्टि से नहीं, अपितु यह एक शुद्ध धार्मिक दृष्टिकोण प्रतीत होता है। यही कारण है कि नागार्जुन ने इस ग्रन्थ में प्रमाण के खण्डन को सबसे अधिक

---

१. द्रष्टव्य—चोङ्खापा कृत मूलमाध्यमिक कारिका की व्याख्या 'न्यायसागर' (प्रथम परिच्छेद पृष्ठ ६, सारनाथ, संस्करण)
२. तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (न्याय०सू० १।१।१)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्त्व दिया है; इस ग्रन्थ में आरम्भ से अन्त तक इसी का सिलसिला चलता है। साधारणतया प्रमाण-प्रमेय दोनों का खण्डन साथ-साथ ही चलता है, पर इसमें भी प्रधान रूप से प्रमाण का ही खण्डन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में प्रमेय पदार्थों के खण्डन के लिए अलग से कोई सूत्र नहीं हैं। अवयव के अन्तर्गत हेतु-खण्डन के सन्दर्भ में केवल एक सूत्र आता है, जिसमें आत्मा के अस्तित्व का निषेध किया गया है।

प्रमाण-प्रमेय आदि के खण्डन में मूलरूप से व्यवस्थाप्य और व्यवस्थापक के प्रश्नों को उठाया गया है तथा प्रमाणप्रमेय में अभिसंप्लव का प्रसंग दिया गया है। इसी तरह आगे भी सभी पदार्थों के सम्बन्ध में सापेक्षता, सत्, असत्, सदसत् एवं अनुभय आदि समस्याओं को मुख्य रूप से उठा कर इन्हीं कोटियों के आधार पर खण्डनों का उपक्रम चलता है। अन्त में ७१-७२ सूत्रों के द्वारा ग्रन्थ का उपसंहार किया गया है और सभी पदार्थों के निषेधक वाक्यों का भी निषेध किया गया हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस ग्रन्थ में न्याय शास्त्र के सभी पदार्थों, जो न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितींय आह्निक तक प्रतिपादित हैं, का क्रमशः खण्डन किया गया है। पर यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि इस खण्डन का उद्देश्य क्या है? इस खण्डन का आधार क्या है? इस पर हम आगे विचार करेंगे।

ग्रन्थ की संक्षिप्त समीक्षा : यह तो कहा जा चुका है कि तत्त्वनिरूपण के सन्दर्भ में दो प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। वैदल्यसूत्र का प्रमुख लक्ष्य साधनगत विप्रतिपत्तियों का निरास करना है। यही कारण है कि इसमें बाह्यार्थ, आत्मा, ईश्वर आदि तत्त्वों का खण्डन नहीं किया गया है। यहाँ केवल उन प्रमाण आदि पदार्थों का ही खण्डन किया गया है, जिनका सभी दार्शनिक अपनी अपनी मान्यताओं की पुष्टि के लिए साधन के रूप में उपयोग करते हैं। यद्यपि यहाँ प्रमुखतः न्याय शास्त्र के पदार्थों को ही निषेध्य के रूप में लिया गया है, फिर भी इसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह केवल नैयायिकसम्मत प्रमाणों का ही खण्डनमात्र है। यहाँ मुख्य समस्या प्रमाण और तत्सम्बन्धित पदार्थों की सत्ता की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचार्य ने यहाँ जिन पदार्थों का खण्डन किया है, वह किसी न्यायविशेष की दृष्टि से नहीं, अपितु दार्शनिक दृष्टि से खण्डन किया है। तात्त्विक दृष्टि से विप्रतिपत्तियों का निरास दर्शन के क्षेत्र में ही होता है। न्याय के क्षेत्र में इसके लिए अवकाश नहीं हैं। यद्यपि यहाँ प्रमाण, प्रमेय, हेतु, दृष्टान्त आदि के विषय में विचार अवश्य किया गया है, फिर भी यह इन पदार्थों के गुण-दोष आदि का विचार नहीं है, अपितु इनके स्वभाव एवं अस्तित्व पर विचार है। ग्रन्थ के प्रारम्भ से अन्त तक हम देखते हैं कि सभी विषयों के सम्बन्ध में प्रश्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्, असत्, सदसत् आदि का है। शैली भी यहाँ नागार्जुन की वही प्रसिद्ध शैली है, जो उनके अन्य ग्रन्थों में तत्त्वनिरूपण के सम्बन्ध में प्रयुक्त है। दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया में नागार्जुन सब समय इस बात को मानकर ही चलते हैं कि 'सत्ता' और 'सापेक्षता' ये दो सर्वथा एक दूसरे के विरोधी तत्त्व हैं, जबकि समस्त व्यावहारिक जगत सापेक्षभाव से प्रवृत्त है। यही दृष्टिकोण इस ग्रन्थ में भी शुरू से अन्त तक परिलक्षित होता है।

इन सारी बातों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नागार्जुन ने प्रमाणादि जिन पदार्थों का खण्डन किया है, वह उन पदार्थों का वैसा खण्डन नहीं, जैसा लोग समझते हैं, अपितु उनके स्वभावतः अस्तित्व का खण्डन है। प्रमाणादि का स्वभाव खण्डित हो जाने पर भी वे नाममात्र के रूप में अवशिष्ट रह जाते हैं। उसी नाममात्रता के आधार पर प्रमाणों की व्यवस्था भी की जाती है। यही कारण है कि नागार्जुन एक ओर सभी वस्तुओं का खण्डन करते हैं, तो दूसरी ओर जागतिक सभी व्यवस्था भी करते हैं। इस तरह का अभिप्राय न समझने के कारण वस्तुवादियों ने उक्त खण्डनों के प्रत्युत्तर के रूप में युगों तक शास्त्रों की रचना की। आज भी उस तरह के लोग कहते हैं कि विचारों में विरोध दिखलाने से वस्तु का खण्डन नहीं होता। इस बारे में हमारा निवेदन है कि प्रश्न वस्तु के खण्डन का नहीं है। वस्तु का खण्डन करनेवाले पागल दार्शनिक तो वस्तुतः आज तक इस पृथ्वी पर पैदा ही नहीं हुए। हम तथ्य की दृष्टि से देखें, तो आज तक जितने भी खण्डन, मण्डन और परिमार्जन हुए हैं, वे विचारों के क्षेत्र में ही हुए हैं। विचारों का केन्द्र एवं समस्या घट-पटादि वस्तु नहीं है, अपितु समस्या है उन वस्तुओं के सम्बन्ध में होनेवाले हमारे विचारों एवं भावनाओं की।

यह ग्रन्थ सम्भवतः आचार्य ने मूलमाध्यमिककारिका के पहले लिखा है, क्योंकि मूलमाध्यमिककारिका में जगह-जगह पर उठाए गए प्रमाणसम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर उन्होंने विग्रहव्यावर्तनी में दिया है, जबकि यहाँ देना चाहिए था। इससे यह प्रतीत होता है कि मूलमाध्यमिककारिका से सम्बन्धित प्रश्न इस ग्रन्थ के बाद उठाये गये प्रश्न हैं, अतः उसके लिए उन्हें विग्रहव्यावर्तनी की रचना करनी पड़ी।

आचार्य ने इस ग्रन्थ में परपक्ष के खण्डन के लिए जिन युक्तियों का उपयोग किया है, वे प्रायः दूषण या प्रसंग ही हैं। प्रसंगों के साथ व्याप्ति और दृष्टान्त भी प्रायः सब जगह चलते हैं। परन्तु प्रसंग और दृष्टान्त आदि कैसे होने चाहिए और उनका स्वरूप क्या है? इत्यादि नहीं बताया गया है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि उनके समक्ष न्याय और दर्शन ये दोनों परस्पर भिन्न एवं स्वतंत्र विद्या के रूप में थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संक्षेप में यह ग्रन्थ शून्यवादी दृष्टि से उपनिबद्ध है । यहाँ न्याय सम्बन्धी विषयों का विचार नहीं, अपितु दर्शन सम्बन्धी तत्त्वों का ही विचार है । इसकी रचनाशैली भी न्याय से सम्बद्ध नहीं, प्रत्युत दार्शनिक है ।

वैदल्यसूत्र और न्यायशास्त्र की संक्षिप्त समीक्षा

वैदल्यसूत्र और न्यायसूत्र : वैदल्यसूत्र के सम्बन्ध में कुछ चर्चा हम पीछे कर आये हैं । इसमें न्याय के पदार्थ खण्डनीय विषय बनाये गये हैं । उधर न्याय के पदार्थों के समर्थन में भी सूत्र-ग्रन्थ विद्यमान है । दोनों ग्रन्थ आज हमारे समक्ष पक्ष और प्रतिपक्ष के रूप में उपस्थित हैं । वैदल्यसूत्र में केवल ७२ सूत्र हैं । इनमें न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक तक के सूत्रों में निर्दिष्ट १६ पदार्थों का खण्डन है । न्यायसूत्र में उपर्युक्त खण्डनों के प्रत्युत्तर के साथ षोडश पदार्थों की विशद व्याख्या है । वाचस्पतिमिश्र के [1]अनुसार इसमें पाँच अध्याय, १० आह्निक, ८४ प्रकरण, ५२८ सूत्र, १९६६ पद और ८३८५ अक्षर हैं । अब प्रश्न उठता है कि नागार्जुन के समक्ष यह सम्पूर्ण सूत्र था या नहीं ? उत्तर स्पष्ट है कि नहीं था । यदि होता, तो कोई कारण नहीं कि उन्होंने इसके विषय में कुछ न कहा होता, जबकि उन्होंने न्यायशास्त्र के १६ पदार्थों का प्रश्न उठाया और उस पर क्रमशः विचार भी किया है । ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि तब नागार्जुन के समक्ष कौन-सा न्यायशास्त्र उपस्थित था, जिसके आधार पर उन्होंने १६ पदार्थों की आलोचना की तथा उस समय न्याय की क्या स्थिति थी? इन प्रश्नों पर विचार करने से पूर्व सामान्य न्याय की चर्चा करना आवश्यक जान पड़ता है । अतः संक्षेप में उसकी चर्चा करेंगे ।

न्याय विद्या : न्यायदर्शन के ऐतिहासिक स्रोतों एवं परम्पराओं पर दृष्टिपात करने से यह मालूम पड़ता है कि सामान्यतः न्यायविद्या एक स्वतन्त्र तन्त्र है । यह मनुष्यजाति की तर्कप्रणाली से सोचने और विमर्श करने की एक प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया का विभिन्न कालों में क्या स्वरूप रहा ? इस पर हम आगे विचार करेंगे ।

परिभाषा : साधारणतः न्याय का अर्थ युक्तता और औचित्य माना जाता है। खास तौर पर 'न्याय' शब्द की रचना 'नि' उपसर्ग पूर्व 'इण्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय द्वारा की गई है । इसका अर्थ औचित्य की ओर ले जाना (नियमेन ईयते) है । अर्थात् सही तरीके से वस्तु के यथार्थ स्वरूप की ओर ले जाना है । अथवा

---

१. न्यायसूचीनिबन्धः, पृ० १४ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसके द्वारा नियत करना (नियन्ति अनेन) अर्थात् विषय का निश्चय करना होता है। न्यायशास्त्र या न्यायविद्या के साथ प्रयुक्त न्याय शब्द का अर्थ प्रत्यवेक्षण के द्वारा विषय का अवधारण करना है। तर्क और दूषण या प्रसंग आदि 'प्रत्यवेक्षण' के वाह्य स्वरूप हैं। निमित्त अथवा साधन (हेतु) विशेष के द्वारा अर्थ का परीक्षण[1] करना प्रत्यवेक्षण है। इस प्रत्यवेक्षण या ऊहापोहविधि को हम न्याय कहते हैं। सम्बन्ध-ग्राहक प्रत्यक्षादि की अनुवीक्षा 'अन्वीक्षा' अर्थात् अनुमान कहलाती है, और अन्वीक्षा के आधार पर प्रवृत्त विद्या को आन्वीक्षिकी कहा जाता है। प्राचीन समय में 'न्याय' के लिए आन्वीक्षिकी शब्द का ही प्रयोग होता था, पर कालान्तर में न्याय शब्द भी तदर्थ-बोधक के रूप में प्रचलित हुआ। अतः आन्वीक्षिकी विद्या, अनुमान विद्या और न्यायविद्या सब समानार्थक हैं। न्यायभाष्यकार के अनुसार प्रत्यक्ष और आगम पर आश्रित प्रमाण अनुमान है, वही अन्वीक्षा भी। तत्सम्बन्धित विद्या आन्वीक्षिकी है, जैसे कहा है—

'प्रत्यक्षागमाश्रितं चानुमानम्, सान्वीक्षा। तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी, न्यायविद्या'। भाष्य, पृ० ३।

वार्तिककार ने इसका दूसरा रूप भी प्रस्तुत किया है—

"संशयादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकीति"। (न्यायवार्तिक पृष्ठ-१४)
अर्थात् संशयादिभेद का अनुविधान करने वाली विद्या आन्वीक्षिकी है।

संक्षेप में 'न्याय' उस प्रक्रियासमूह का नाम है, जिसमें चिन्तन, परीक्षण एवं अवधारण के नियमों का विधान होता है।

महत्त्व : आमतौर पर न्यायविद्या का महत्त्व उसके अन्दर निहित वैचारिक उत्कृष्टता के आधार पर आंका जाता है। परन्तु यदि हम दूसरी दृष्टि से देखें, तो इसका महत्त्व वैचारिक या बौद्धिक दृष्टि से उतना नहीं है, जितना मानव जीवन के मूल्यों की दृष्टि से है। जीवन का मूल्य व्यक्ति का पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की सिद्धि यथार्थ ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में ही होती है। यथार्थ ज्ञान और प्रमाण का प्रतिपादन करना न्यायविद्या का प्रधान लक्ष्य है। इसी लिए कहा गया है :

"सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते"।
(न्यायविन्दु १-१)

संक्षेप में मानव जीवन के जितने क्रिया-कलाप हैं, उन सभी का मूल आधार

१. द्र०—प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय: (भाष्य, पृष्ठ ३)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थपरीक्षण और तत्त्वाध्वसाय[1] है। यही दो विषय न्याय शास्त्र के मूल आधार हैं।

अन्य विद्या के साथ न्याय का सम्बन्ध : न्यायशास्त्र न केवल हमारे जीवन से सम्बन्धित है, अपितु प्रत्येक विद्या के साथ इसका अनिवार्य सम्बन्ध रहता है। ऐसा कोई भी शास्त्र या विद्या नहीं हैं, जिसमें युक्तियों के लिए स्थान न हो। जहाँ युक्ति एवं अनुमान ज्ञान के लिए स्थान होता है, वहाँ न्याय के लिए स्थान होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि प्राचीन वेद से लेकर आज के उपन्यास-कहानी तक का साहित्य न्याय विद्या से अछूता नहीं रह सका है।

प्राचीन न्याय की स्थिति : यह तो ऊपर कहा जा चुका है कि न्यायविद्या मानव जाति की सोचने की प्रक्रिया और उसकी एक विधि है। परन्तु यह निश्चय करना मुश्किल है कि मानवजीवन में न्यायविद्या का प्रवेश कब और कैसे हुआ ? इस विद्या के आविष्कार की कहानी कब से और कहाँ से आरम्भ हुई, कहना कठिन है। उपनिषदों, बौद्ध साहित्य और पौराणिक काल से इस विद्या की कुछ रूपरेखा हमारे समक्ष आती है। फिर भी यह प्रश्न प्रश्न रह ही जाता है कि वर्तमान न्यायसूत्र की रचना कब हुई ? यों ग्रन्थ रचने का समय बहुत बाद में आता है। कुछ विद्वान् न्यायसूत्र का उद्‌गम उपनिषद् काल से मानते हैं। कुछ इसे बुद्ध के समकालीन मानते हैं[2]। यह कहना सही नहीं जान पड़ता कि बुद्ध से पहले न्याय शास्त्र का अस्तित्व नहीं था। वैदिक ग्रन्थों में भी न्याय के अर्थ में आन्वीक्षिकी शब्द का प्रयोग मिलता है। बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, कठोपनिषद्, और मनुसंहिता आदि में आन्वीक्षिकी का प्रयोग आत्मविद्या के अर्थ में होता है। याज्ञवल्क्य संहिता, माण्डूक्योपनिषद् आदि में भी आन्वीक्षिकी का अर्थ आत्मपरक है। जब कि इन ग्रन्थों में न्याय के पदार्थों के बारे में कोई उल्लेख नहीं है। यद्यपि चरक संहिता में न्याय के पदार्थों का विस्तार से उल्लेख मिलता है और वह न्याय सूत्र (वर्तमान न्याय सूत्र) से कुछ प्राचीन भी लगती है, पर 'चरक' का समय बहुत बाद का है (ई० प्रथम-द्वितीय)। बौद्धों के प्राचीन सूत्रों में भी 'तर्क' और तार्किक लोगों की बात बहुत जगह आती है। खुद्दक निकाय, महावत्थु, ललितविस्तर आदि में भी तार्किक मतों का विवरण है, परन्तु तर्क विद्या का क्या स्वरूप है ? इसका स्पष्ट वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में कहीं नहीं मिलता। आचार्य कौटिल्य (लगभग ३२७ ईसा पूर्व) के काल से आन्वीक्षिकी के एक

---

१. यहाँ तत्त्वाध्यवसाय के 'तत्त्व' से तात्पर्य आत्मा, ब्रह्म या शून्यता आदि नहीं, अपितु वस्तु के यथार्थ स्वरूप एवं अर्थक्रियाकारित्व से है।

२. डॉ० विद्याभूषण-(हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वतन्त्र विद्या के रूप में विकसित होने का प्रमाण मिलता है; परन्तु इन विवरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय भी वर्तमान न्याय सूत्र अपने अस्तित्व में नहीं थे।

नागार्जुन के समक्ष न्याय सूत्र : इधर नागार्जुन के वैदल्यसूत्र के अध्ययन से पता चलता है कि उनके समक्ष न्यायपदार्थों का सुनिश्चित स्वरूप विद्यमान था। इसका मतलब यह नहीं है कि नागार्जुन के समक्ष वर्तमान न्यायसूत्र उपस्थित थे। उनके सामने केवल प्रथम अध्याय के १६ पदार्थविषयक सूत्र ही, जिसकी संख्या–६१ है और जिसमें ११ प्रकरण हैं, विद्यमान थे। नागार्जुन की रचना इसे स्पष्ट रूप से बताती हैं। आम तौर पर प्रमाणों का खण्डन मूल-माध्यमिकारिका आदि उनके अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है, पर वैदल्यसूत्र में आरम्भ से अन्त तक केवल न्यायपदार्थों का ही खण्डन किया गया है। यह भी केवल पदार्थों का खण्डनमात्र नहीं, अपितु सूत्रों के विवरण के साथ उनका खण्डन है। जहाँ खण्डन समाप्त होता है, वहाँ न्यायसूत्र का प्रथम अध्याय भी समाप्त हो जाता है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि इससे आगे के सूत्र नागार्जुन के समक्ष नहीं थे।

दूसरी बात यह है कि न्यायसूत्र के दूसरे अध्याय से पाँचवें अध्याय तक के सूत्र, वैदल्यसूत्र में न्यायसूत्र के जिन सूत्रों का खण्डन किया गया है, उस खण्डन के खण्डन के रूप में सामने आते हैं। इतना ही नहीं, इन अध्यायों में शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों का खण्डन विद्यमान है। इस दशा को देखकर बहुत से विद्वान् न्यायसूत्र के काल को बहुत पीछे (जैकोवी, श्चेरवात्स्की आदि के अनुसार ईसा की ५वीं सदी) ले जाते हैं। कुछ भी हो, उक्त विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्पूर्ण न्यायसूत्रों की रचना किसी एक व्यक्ति के द्वारा एक ही समय में नहीं हुई है, अपितु इनकी रचना अनेक कालों के विचारों को लेकर अनेक समय में हुई हैं। कुछ विद्वान् (आचार्य विश्वेश्वर आदि) इस मत से सहमति भी व्यक्त करते हैं। जहाँ तक मेरा विचार है, न्यायशास्त्र के मूल सूत्र वर्तमान न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक तक ही हैं। उसके पश्चात् के शेष सूत्र, मूल सूत्रों के उपबृंहण मात्र हैं। जिनका प्रणयन बाद में हुआ है। खासकर इनकी रचना नागार्जुन के खण्डन को एवं उनकी युक्तियों को ध्यान में रखकर की गई है।

धार्मिक हस्तक्षेप : उक्त मूलसूत्रों प्रथम अध्याय के) में प्रमेयनिर्देशक सूत्र पश्चात्कालीन धार्मिक भावनाओं के द्वारा संनिविष्ट जान पड़ते हैं। न्यायविद्या से इनका वह सम्बन्ध नहीं है, जो एक न्यायशास्त्र के सिलसिले में होना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रमेय भी न्याय विद्या से सम्बन्धित पदार्थ हैं, तो भी यहाँ सामान्य प्रमेय ही होना चाहिये, जिसके लिए प्रमेय सम्बन्धी प्रथम सूत्र काफी है। यह बात दूसरी है कि विभिन्न साम्प्रदायिक विचार के लोग न्यायविद्या को अपने साम्प्रदायिक 'साध्य' के साधन के तौर पर उपयोग में लायें। साम्प्रदायिक विचारों का सम्बन्ध साध्यगत विषयों के साथ ही रहता है, न्यायविद्या जैसी साधन विद्याओं के साथ तत्त्वप्रवण साम्प्रदायिक दृष्टि का कोई सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। यों, भाष्यकार के वाक्यों में यह भी देखने में आता है कि प्रमाण और प्रमेय 'न्याय' के पदार्थ ही नहीं, अपितु न्यायसम्बन्धी पदार्थ संशय से प्रारम्भ होते हैं। संशय से लेकर आगे के पदार्थ ही इस विद्या के आन्वीक्षिकी होने के नियामक हैं। यदि इन पदार्थों का अलग से प्रवचन न किया जाय तो प्रमाण-प्रमेय की व्याख्या आध्यात्मिक विद्या मात्र रह जायगी। यही कारण है कि वार्तिककार ने—'संशयादिभेदानुविधायिनी आन्वीक्षिकी' कहा है। इन बातों से भी उपर्युक्त मत की ही पुष्टि होती है कि प्रमेय न्याय विद्या से सम्बद्ध पदार्थ नहीं हैं।

परवर्ती सूत्रों की रचना : साधारणतया शास्त्रों में प्रमेय ही मुख्य 'साध्य' होता है और 'प्रमाण' की व्यवस्था बहुत गौण होती है तथा वह भी केवल साधन के रूप में आती है। परन्तु न्यायपरम्परा में प्रमेय के लिए खास स्थान नहीं होता। यहाँ सारी व्यवस्थाओं का प्रमुख साध्य 'प्रमाण' होता है। इस नय के अनुसार न्यायदर्शन (गौतम न्याय) में भी प्रमाण 'साध्य' के स्थान पर ही प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि 'प्रमाण' को अनुमान विद्या का असाधारण पदार्थ नहीं माना गया। अनुमान विद्या अथवा आन्वीक्षिकी विद्या के पदार्थों का प्रारम्भ संशय से ही होता है।

नागार्जुन ने न केवल प्रमाणों का ही खण्डन किया, किन्तु जब उन्होंने संशय आदि का भी खण्डन कर दिया तो तर्कप्रणाली से विचार करने का सारा मार्ग ही अवरुद्ध हो गया और हमारे ख्याल से इससे अधिक संकट न्याय जगत् में शायद कभी हुआ ही नहीं। तब न्यायपरम्परा के लोगों ने अपनी सारी शक्ति उक्त खण्डनों के प्रत्युत्तर में लगायी और फिर नये सिरे से सूत्रों का निर्माण भी आरम्भ किया। यही कारण है कि न्यायसूत्र के द्वितीय अध्याय के सूत्रों का आरम्भ संशय से होता है।

संशय की आलोचना में वैदल्यसूत्र में कहा गया है कि—"उपलब्धानुपलब्धयोरसंशयः, सत्वादसत्वाच्च[1]"—इसी के खण्डन के रूप में न्यायसूत्र में—

---

१. वैदल्यसूत्र २०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"समानानेकधर्माध्यवसायाद्"—से लेकर ७ सूत्र आते हैं[१]। इनमें ५ सूत्रों के द्वारा पूर्वपक्ष की स्थापना होती है, शेष दो सूत्रों के द्वारा उसका खण्डन होता है। यहाँ उक्त वैदल्यसूत्र का अनुवाद करते हुए लिखा गया है कि—"अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थाया:"—(न्यायसूत्र २।१।४) अर्थात् उपलब्ध व्यवस्था तथा अनुपलब्ध व्यवस्था से भी 'संशय' नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी व्यवस्थाएँ व्यवस्थित (निश्चित) हैं। इसी प्रकार आगे लिखा है कि—"यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः" (न्यायसूत्र २।१।७) अर्थात् यहाँ प्रतिवादी संशय आदि के सम्बन्ध में, जो जो प्रसङ्ग देगा उसके लिए उसी तरह उत्तर देना चाहिए। इसी तरह वैदल्यसूत्र में "न सिध्यन्ति कालत्रयेऽपि प्रमाण-प्रमेयादीनि"[२] उक्त है। यही बात न्यायसूत्र में इस प्रकार है—"प्रत्यक्षादीनामप्रमाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः" (२।१।८ से १५ तक)। वैदल्यसूत्र—"न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, प्रदीपवत्[3] प्रमाणं स्वं परं च प्रसाधयति, प्रमाणे न प्रमाणम्"। न्यायसूत्र—"प्रमाणतः सिद्धेः"—(२।१।१७ से २० तक)।

इस प्रकार न्याय सूत्र के पीछे के अध्यायों में वैदल्यसूत्र के प्रत्येक वाक्य का उल्लेख और उनका प्रत्युत्तर मिलता है। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वर्तमान न्यायसूत्र का द्वितीय अध्याय और उससे आगे का अंश नागार्जुन के बाद की रचना है। इतना ही नहीं, वर्तमान न्यायसूत्र के तृतीय अध्याय से आगे के सूत्रों में जगह जगह विज्ञानवादियों का भी खण्डन किया हुआ मिलता है, जबकि विज्ञानवाद बुद्ध के परिनिर्वाण के ९०० वर्ष बाद (३-४ शताब्दी, ई०) अपने स्वतन्त्र अस्तित्व में आया है। श्री 'जैकोबी' आदि विद्वानों का कहना है कि शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों वाह्य जगत् का निषेध करते हैं। अतः सूत्रों में (न्यायसूत्र, ब्रह्मसूत्र आदि में) जहाँ विज्ञानवाद का खण्डन प्रतीत होता है, वहाँ वास्तव में शून्यवाद का ही खण्डन है। परन्तु न्यायसूत्र के क्षणभङ्गनिराकरण और बाह्यार्थभङ्गनिराकरण आदि प्रकरण स्पष्ट रूप से विज्ञानवाद के खण्डन प्रतीत होते हैं। इन खण्डनों के सन्दर्भ में उठाये गये प्रश्नों से शून्यवाद का सम्बन्ध नहीं, अपितु साक्षात् रूप से इन प्रश्नों का सम्बन्ध विज्ञानवाद

---

१. न्यायसूत्र २।१।१—२—३—४—५—६—७।

२. वैदल्यसूत्र ११।

३. यद्यपि डॉ० विद्याभूषण 'प्रदीपवत् प्रमाणं—' इस वाक्य को अक्षपाद का वाक्य मानते हैं, परन्तु प्राचीन बुद्धवचनों में ऐसे बहुत से वाक्य आते हैं: जैसे प्रदीपो द्रव्यजातीनां व्यञ्जकः—लङ्कावतारसूत्र पृ० १८२ और विज्ञानवादी इन सूत्रों को स्वसंवेदन निर्देशकसूत्र मानते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से है। न्याय सूत्र के पाँचवें अध्याय में तो वसुवन्धु और चन्द्रकीर्ति की प्राप्ति और अप्राप्ति (प्रसङ्गों के प्रकार विशेष) की वात भी लिखी हुई है। ये वसुबन्धु आदि के वाक्य न भी हों, पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त वाक्यों का प्रयोग उस काल का अवश्य है।

भाष्य : यह विचारणीय वात है कि वर्तमान न्यायसूत्र के सभी अध्यायों पर वात्स्यायन का भाष्य उपलब्ध है। भाष्य के सम्बन्ध में यह वात नहीं कही जा सकती, जो न्यायसूत्र के सम्बन्ध में कही गई है। इसकी भाषा, व्याख्याशैली आदि से स्पष्ट मालूम होता है कि यह एक ही व्यक्ति की एक ही समय की रचना है। समय की दृष्टि से भी यह रचना वसुवन्धु से पहले नहीं मानी जा सकती।

न्यायविद्या के प्रवर्तक एवं सूत्रकार : यद्यपि न्यायविद्या के प्रवर्तक गोतम या अक्षपाद माने जाते हैं। परन्तु वर्तमान न्यायसूत्र के रचयिता गोतम या अक्षपाद कदापि नहीं हैं। आमतौर पर परम्परावादी सभी विद्वान् अक्षपाद और गौतम दोनों को एक ही व्यक्ति मानते हैं, पर शास्त्रों में गोतम, अक्षपाद, मेधातिथि और गौतम आदि सभी नाम न्यायविद्या के संस्थापक के लिये आते हैं। इन नामों के साथ किन व्यक्तियों का सम्वन्व रहा है, इसका कोई निश्चयात्मक निष्कर्ष नहीं है। कुछ भी हो, वर्तमान न्यायसूत्र से उक्त व्यक्तियों का सम्बन्ध भले ही रहा हो, फिर भी वे इसके रचयिता के रूप में स्वीकार नहीं किये जा सकते। कहने का आशय यह है कि न्यायविद्या के प्रवर्तक गोतम या अक्षपाद ही वर्तमान न्यायसूत्रों के रचयिता नहीं हैं। न्यायसूत्रकार गौतम या आक्षपाद हो सकते हैं। आक्षपाद का भी उल्लेख मिलता है। अतः शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से गोतम के अनुयायियों को गौतम और अक्षपाद के अनुयायियों को आक्षपाद मानकर वर्तमान न्यायसूत्र के रचयिता को गौतम अथवा आक्षपाद कहा हो तो असम्भव नहीं है। यदि यह कल्पना सही हो, तो यह न्यायसूत्रकार गौतम ईसा की तीसरी शताब्दी में अवश्य मौजूद थे। यों भाष्यकार की भाषा, रचना शैली, सूत्रों को अत्यन्त व्यवस्थित रूप से भाष्य में संनिवेश करना, पूर्वापर शास्त्रों के सन्दर्भ एवं वाक्यांशों के सम्बन्धों की व्यवस्था को देखकर कभी कभी ऐसा भी लगता है कि शेष सूत्रों की रचना स्वयं भाष्यकार ने तो नहीं की है? यद्यपि यह नई कल्पना है, पर यह बहुत ही सम्भव प्रतीत होती है। भाष्यकार की भाषा, शैली आदि की विशेषता के कारण वार्तिककार और वाचस्पतिमिश्र जैसे विद्वानों को भी सूत्र और भाष्य के भेद में मतभेद होने लगता है।

उपसंहार : भारतीय धर्म, दर्शन और विद्याओं के स्रोत तथा उद्गम के बारे में निर्णय करने में बहुत सी कठिनाइयां सामने आती हैं। इस सम्बन्ध में विद्वानों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में अनेक मतभेद हैं। उपनिषद् काल से लेकर सूत्र, भाष्य और तत्सम्वन्धित आचार्य और उनके समय आदि वहुत ही विवादास्पद विषय हैं। विशेषरूप से न्याय दर्शन या तर्क विद्या के प्राचीन इतिहास को निश्चित करना असम्भव सा प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा करने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं। मनुष्य जाति की प्रवृत्ति में सुलभ संदेहात्मक प्रवृत्ति, गवेषणात्मक चिन्तन और निर्णयात्मक ज्ञान के फलस्वरूप उनमें भौतिक विकास के साथ साथ आध्यात्मिक एवं ज्ञान सम्बन्धी विषयों का भी विकास होता रहा है, परन्तु इसके ऐतिहासिक तथ्यों का अध्ययन आज वहुत हद तक अन्धकार में छिपा है। इस दिशा में पश्चिमी लोगों ने वहुत कुछ लिखा है, पर उनके मत परम्परागत मतों से मूलतः भिन्न हैं। यद्यपि पश्चिमी लोगों का मत भी शतप्रतिशत सत्य नहीं जान पड़ता, तथापि परम्परागत मत भी लोगों की प्राचीनता प्रेमी प्रवृत्ति, काव्यात्मक शैली, कथात्मक वर्णन और श्रद्धागत अतिशयोक्तियों के कारण सत्य से वहुत दूर हट चुका है। एंसी स्थिति में किसी एक के वाक्यों को शब्दशः प्रमाण मानना सत्य के प्रति ईमानदारी नहीं होगी। उक्त विषयों पर नये सिरे से मौलिक विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ की छोटी सी भूमिका में सम्वन्धित विद्या एवं आचार्यों के सम्बन्ध में दो शब्द उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। इसमें जो कुछ भी मन्तव्य रखे गये हैं, वे कोई सिद्ध नहीं हैं। इनके विपरीत यदि कोई प्रवल प्रमाण मिले, तो अवश्य ही उसके आधार पर फिर से परीक्षण होना चाहिए। इस दिशा में अधिकारी विद्वान् अवश्य ही कुछ कदम उठायेंगे, यही मेरी मनः कामना है।

आचार्य सेम्पा दोर्जे
केंद्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा संस्थान,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

बुद्धाब्द २५१८
२३ अप्रैल, १९७४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri 4275

नमो मंजुश्रिये कुमारभूताय

आचार्यनागार्जुनप्रणीतम्

वैदल्यसूत्रम्

(१) तर्कज्ञानाभिमानेन वादं यः कर्त्तुमिच्छति ।
तस्याहंकारहानाय वच्मि वैदल्यसूत्रकम् ॥

तर्क और ज्ञान के अभिमान से जो[1] वाद करना चाहते हैं, उनके अहंकार के नाश के लिये मैं (नागार्जुन) वैदल्यसूत्र की रचना करता हूँ।[2]

(२) प्रमाणप्रमेयानि स्वतोऽसिद्धानि, मिथोऽभिसम्प्लुतत्वात् ।

प्रमाण और प्रमेय स्वतः असिद्ध हैं; क्योंकि वे परस्पर (एक-दूसरे में) सम्मिश्रित हैं।[3]

---

१. यहाँ 'जो' का तात्पर्य न्यायसूत्रकार गोतम और उनके अनुयायियों से है। ये लोग प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान नामक १६ पदार्थों को द्रव्यसत् मानते हैं तथा विपरीत मत रखने वालों से अभिमान के साथ तर्क करते हैं। नागार्जुन प्रस्तुत कारिका में उनके अहंकार के नाश की प्रतिज्ञा करते हैं।

२. प्रस्तुत कारिका की स्ववृत्ति में प्रथम न्यायसूत्र उद्धृत है। किन्तु यह ज्ञातव्य है कि यहाँ प्रमाण-प्रमेय से लेकर निग्रहस्थान पर्यन्त (प्रमाण-प्रमेय········निग्रहस्थानानि) ही उल्लिखित हैं। आगे का अंश 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' उल्लिखित नहीं है। यह अवशिष्ट अंश आगे प्रस्तुत ग्रन्थ के छलसूत्र (वैद० ६६) के साथ उद्धृत है।

३. वस्तुतः प्रमाण से प्रमेय की तथा प्रमेय से प्रमाण की सिद्धि होती है। फलतः प्रमाण प्रमेय का प्रमेय और प्रमेय प्रमाण का प्रमाण हो जाता है। ऐसी स्थिति में दोनों के लक्षण दोनों में चले जाते हैं और उनके भेद का नियामक कोई नहीं रह जाता। इसीलिये आचार्य ने लक्षणों के मिश्रित हो जाने से असिद्धि की चर्चा की है। दोनों, (प्रमाण और प्रमेय) की आत्मसिद्धि परस्पर की अपेक्षा से होती है। वस्तुतः वे स्वतः न तो प्रमाणत्वेन और न प्रमेयत्वेन ही सिद्ध हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमाण और प्रमेय की परस्परापेक्ष सिद्धि भी नहीं मानी जा सकती। क्योंकि—

(३) सतोऽसतः सदसतश्च न सापेक्षत्वम्।

सत्, असत् और सदसत् धर्म किसी की अपेक्षा नहीं करता।[१]

पूर्वपक्ष—तुला आदि के समान प्रमाण और प्रमेय की स्थिति है।[२]

(४) न, अनवस्थाप्रसंगात्।

(वैसी स्थिति) नहीं है, (वैसा होने पर) अनवस्था का प्रसंग होगा।[3]

पूर्वपक्ष—

(५) प्रदीपवत् प्रमाणं स्वं परं च प्रसाधयति। प्रमाणे न प्रमाणम्।

दीपक के समान प्रमाण अपने को और दूसरे (दोनों) को सिद्ध कर देता है।[४] फलतः प्रमाण के (प्रामाण्य के) लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

(६) नापहन्ति दीपः प्राप्तमप्राप्तं चान्धकारम्।

दीपक प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकार के अन्धकार का नाश नहीं

---

१. सत् धर्म विद्यमान होने से अन्य (हेतु आदि) की अपेक्षा नहीं करता। जैसे—विद्यमान घट अपने उत्पाद के लिये मृत्पिण्ड, दण्ड आदि हेतुओं की अपेक्षा नहीं करता। असत् धर्म अविद्यमान होने से किसी की अपेक्षा नहीं करता, अन्यथा शशविषाण आदि के भी सापेक्ष होने का प्रसंग होगा। सदसत् भी सापेक्ष नहीं होता, अन्यथा उपर्युक्त दोनों पक्षों में कथित दोषों का प्रसंग होगा।

२. जैसे तुला के बिना परिमाण का ग्रहण नहीं होता, वैसे ही प्रमाण के बिना प्रमेय का ग्रहण सम्भव नहीं है।

३. यह भी युक्त नहीं है। यदि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है तो प्रमाण को सिद्धि के लिये अन्य प्रमाण मानना आवश्यक होगा। इसी प्रकार उस अन्य प्रमाण के लिये भी प्रमाणान्तर अपेक्षित होगा। इस तरह अनवस्था दोष होगा। अर्थात् कभी भी प्रमाण सिद्ध न हो सकेगा।

४. दीपक को प्रकाशित करने के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती। जैसे वह अन्य रूप आदि विषयों को प्रकाशित करता है, वैसे ही वह अपने को भी प्रकाशित कर देता है। फलतः जैसे दीपक स्व और पर का प्रकाशक है, वैसे ही प्रमाण भी प्रमेय को और अपने को सिद्ध कर देता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करता ।[१]

(७) ग्रहबाधेवात्रापि भवेदिति चेत् ? न, दृष्टान्तस्य विरुद्धत्वात् ।

ग्रहों की बाधा के समान यहाँ भी (दीपक और अन्धकार में बाध्य-बाधकभाव) हो सकता है ? नहीं, क्योंकि (आपका) दृष्टान्त ही विरुद्ध है ।[२]

(८) शास्त्रे लौकिकपरीक्षकाणां हर्यादीनामिवाभिमतः ।

(आपके) शास्त्र में भी (दृष्टान्त) वैसा ही मान्य है, जैसे लौकिक (सामान्य जन) और हरि आदि परीक्षकों (विशिष्ट विद्वान्) को अभिमत है।

(९) न प्रकाशयति दीपः स्वात्मानम्, तमोऽभावात् ।

दीपक अपने-आप (स्व) को प्रकाशित नहीं करता, क्योंकि उस (दीपक) में अन्धकार का अभाव है ।[३]

(१०) प्रसंगविपरीतत्वेन तमोऽपि स्वात्मानमावृणुयात् ।

अन्यथा अन्धकार भी अपने-आप को आवृत करता है—ऐसा मानना पड़ेगा ।

(११) न सिध्यन्ति कालत्रयेऽपि प्रमाण-प्रमेयानि ।

तीनों काल में प्रमाण-प्रमेय की सिद्धि नहीं मानी जा सकती।[४]

---

१. प्रकाशित करने का अभिप्राय अन्धकार का प्रहाण होता है, किन्तु स्थिति यह है कि दीपक न तो प्राप्त (स्पृष्ट) अन्धकार का नाश करता है और न अप्राप्त अन्धकार का ही । अर्थात् दीपक प्रकाशित ही नहीं करता ।

२. यहाँ पूर्वपक्षी का आशय यह है कि जैसे देवदत्त आदि व्यक्ति राहु, केतु आदि ग्रहों से बाधित होते हैं, उसी प्रकार प्रकाश और अन्धकार में बाध्य-बाधकभाव है । अर्थात् यहाँ प्रभाव से कार्य होता है । इसमें प्राप्ति-अप्राप्ति की समस्या नहीं है । इस पर उत्तरपक्षी का कहना है कि आपका दृष्टान्त ही गलत है । क्योंकि देवदत्त आदि व्यक्ति जब ग्रहों से बाधित होते हैं तब बाधा का प्रभाव देवदत्त आदि पर पड़ता है । अर्थात् वे बाधा से युक्त होते हैं । किन्तु अन्धकार इस प्रकार बाधा से युक्त नहीं होता, क्योंकि उसका नाश हो गया रहता है ।

३. पहले कहा गया है कि प्रकाशित करने का अभिप्राय अन्धकार का प्रहाण करना है । ऐसी स्थिति में दीपक तभी अपने को प्रकाशित कर सकता है, जब कि उसमें अन्धकार विद्यमान हो । किन्तु ऐसा नहीं है । अतः दीपक का स्वात्मप्रकाशन अयुक्त है । सहानवस्थानलक्षणविरुद्ध वस्तुओं में बाध्य के अभाव में बाधन क्रिया से युक्त बाधक की निष्पत्ति भी असम्भव है ।

४. प्रमाण-प्रमेय के खण्डन के लिये पूर्वप्रयुक्त युक्तियों का आधार 'क्रिया' था । अर्थात् क्रिया के आधार पर खण्डन किया गया था । अब काल के आधार पर निषेध किया जा रहा है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वपक्ष—

(१२) त्रिकालेष्वसिद्धया न युक्तं प्रमाण-प्रमेययोर्निराकरणम् । निषेधे सिद्धे प्रमाणप्रमेययोरपि सिद्धिरिति चेत् ?

त्रिकाल में असिद्धि से प्रमाण-प्रमेय का निराकरण युक्त नहीं है। जब निषेध सिद्ध है तो (निषेध्य) प्रमाण-प्रमेय की सिद्धि भी माननी पड़ेगी ?

(१३) न, प्रागभ्युपेतत्वात् ।

नहीं, यह पहले से ही अभ्युपेत है।[1]

(१४) प्रमाणप्रमेययोरसिद्धिमंगीकरोषि चेत् समाप्तो विवादः ।

यदि आप प्रमाण-प्रमेय को असिद्धि स्वीकार कर लेते हैं, तो (सारा) विवाद समाप्त ही है।[2]

पूर्वपक्ष—निषेध्य के अभाव में निषेध भी निष्प्रयोजन है ?

(१५) असिद्धावपि तत्कल्पनाहानम् ।

असिद्ध होने पर भी उसकी कल्पना का प्रहाण प्रयोजन है।[3]

पूर्वपक्ष—

(१६) अस्ति प्रत्यक्षादीनां सत्त्वम् । कथं कृत्वा ? सम्यग्ज्ञानत्वात् ।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का अस्तित्व है। क्योंकि सम्यक् ज्ञान होता है (अथवा) उनके आधार पर कार्य-अकार्य विवेक होता है।

(१७) प्रत्यक्षादिसिद्धौ नोपपद्यते प्रमेयम् ।

---

१. यद्यपि निषेध्य के अभाव में निषेध नहीं माना जा सकता, किन्तु आपकी तो यह प्रतिज्ञा है कि 'प्रमाण और प्रमेय की त्रैकालिक सत्ता है'। अब उसमें दोप दिखलाई पड़ने पर आप अपनी प्रतिज्ञा से हट कर प्रमाण-प्रमेय के अस्तित्व को हमारे खण्डन (निषेध) पर क्यों निर्भर बना रहे हैं ?

२. उपर्युक्त १२ वें सूत्र में पूर्वपक्षी प्रमाण-प्रमेय की त्रैकालिक असिद्धि स्वीकार कर लेता है तथा निषेध के आधार पर निषेध्य की सिद्धि का प्रयत्न करने लगता है। इस पर नागार्जुन कहते हैं कि यदि आप असिद्धि स्वीकार लेते हैं, तो अब आपके साथ हमारा कोई विवाद अवशिष्ट नहीं है।

३. जैसे किसी पर्वत की गुहा में सर्प बिलकुल नहीं है, किन्तु उसमें सर्प की कल्पना करके भयभीत लोगों के लिए सर्प का निषेध आवश्यक होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्यक्ष आदि यदि सिद्ध हैं, तो प्रमेय उपपन्न न हो सकेंगे।[१]

पूर्वपक्ष—घट में घटबुद्धि प्रमाण और घट प्रमेय हैं ?

(१८) न ज्ञानं न च ज्ञेयम्, तत्प्रत्ययनिबन्धनत्वात्।

घटबुद्धि घटप्रत्ययनिबन्धन है, अतः वह न घट के प्रति प्रमाण है और न घट उसका प्रमेय है।[२]

(१९) धीरपि न प्रमाणम्, प्रमेयेऽभिहितत्वात्।

बुद्धि भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसकी गणना प्रमेयों में की गई है।[३]

संशय-निषेध

पूर्वपक्ष—संशय होने से प्रमाण और प्रमेय सिद्ध हैं ?

(२०) उपलब्धानुपलब्धयोरसंशयः सत्वादसत्वाच्च।

उपलब्ध और अनुपलब्ध दोनों प्रकार के विषयों में संशय युक्त नहीं है, क्योंकि उपलब्ध सत्त्वेन और अनुपलब्ध असत्त्वेन निश्चित हैं।

---

१. प्रमाणों के द्वारा प्रमेय इसलिये सिद्ध हो पाते हैं, क्योंकि वे (प्रमाण) प्रमेय की अपेक्षा से होते हैं। यदि प्रमाण अन्यनिरपेक्ष होकर स्वतः सिद्ध होंगे, तो उनके द्वारा प्रमेय उपपन्न न हो सकेंगे। प्रमाणों की सापेक्ष सिद्धि भी नहीं है। इन्द्रिय, अन्धकारादि से अव्यवहित विषय और आलोक की अपेक्षा से 'प्रत्यक्ष' ऐसा व्यावहारिक संकेत होता है। फलतः प्रत्यक्ष प्रज्ञप्तिसत् है, न कि उसकी स्वतन्त्र या द्रव्यतः सत्ता होती है।

२. आपके मतानुसार प्रत्यक्ष बुद्धि का उत्पाद इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होता है। ऐसी स्थिति में घट उसका प्रत्यय (हेतु) होता है, न कि ज्ञेय। 'प्रत्यय' होने से घट घटबुद्धि से पूर्ववर्ती होता है, ज्ञान के काल में नहीं। ज्ञेय होने के लिये उसे ज्ञान के व्यापार का आधार होना जरूरी है। अर्थात् उसे ज्ञान के काल में उपस्थित होना चाहिये, जब कि ऐसा नहीं है। फलतः घट ज्ञेय नहीं है। इसीलिए ज्ञान भी घट (ज्ञेय) का ज्ञान नहीं है।

३. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्। द्र०—न्यायसूत्र १।१।९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वपक्ष—

(२१) अस्त्येव संशयः, विशेषानपेक्षत्वात् ।[1]

संशय अवश्य है, क्योंकि वह विशेष की अनपेक्षा (अग्रहण या अनवधारण) से उत्पन्न है।

(२२) विशेषापेक्षा नास्त्येव, प्राङ् निराकृतत्वात् ।

संशय विशेष की अपेक्षा नहीं ही करता, (अपेक्षा का) निराकरण हमने पहले ही कर दिया है।[2]

प्रयोजन-निषेध

पूर्वपक्ष—प्रयोजन के रूप में जिस अर्थ का निश्चय हमें करना है, उसके प्रति संशय होता है ।

(२३) न सिध्यति प्रयोजनम्, सत्वाद् असत्वाच्च ।

---

१. ज्ञातव्य है कि यहाँ मूल और स्ववृति दोनों में 'अनपेक्षत्वात्' यह शब्द है। किन्तु आगे के उत्तरसूत्र (२२) में 'विशेषापेक्षा नास्त्येव' पाठ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भी 'विशेषापेक्षत्वात्' यह पाठ होना चाहिये । न्यायसूत्र में भी संशय के लक्षण में **'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः'** इस तरह विशेषापेक्ष शब्द है। न्याय-भाष्य में भी **'समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः'** पाठ है। इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिये। वैसे अनपेक्ष का अगृहीत या अनवधृत अर्थ करने पर इस पाठ का भी सामंजस्य हो सकता है। क्योंकि स्थाणु और पुरुष की समानता का ग्रहण होने और विशेषता का ग्रहण या अवधारण न होने की स्थिति में संशय प्रवृत्त होता है। क्योंकि विशेष वहाँ अपेक्षित नहीं होता, अतः 'अनपेक्षत्वात्' पाठ भी समीचीन कहा जा सकता है।

२. संशय विशेष की उपलब्धि या अनुपलब्धि की अपेक्षा नहीं कर सकता। क्योंकि यदि विशेष उपलब्ध है, तो उसके प्रति संशय के लिये अवकाश ही नहीं और यदि अनुपलब्ध है, तब भी संशय सम्भव नहीं है। अनुपलब्धि, अग्रहण, अज्ञान, अदर्शन पर्यायवाची हैं, न कि संशय। समान, असमान विशेषणों का ग्रहण यदि संशय का कारण है, तो किसी धर्म में कभी भी संशय की निवृत्ति नहीं हो सकेगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत् और असत् दोनों अवस्थाओं में प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।[१]

दृष्टान्त-निषेध

पूर्वपक्ष—वालु में अप्रवृत्ति दृष्टान्ततः सिद्ध है। जैसे—पटार्थी तन्तु में प्रवृत्त होता है, न कि वीरण (तृणविशेष) में[२]।

(२४) सोऽपि पूर्वसदृश एव।

दृष्टान्त भी पूर्व (प्रयोजन) के समान ही (असिद्ध) है।

(२५) न दृष्टोऽन्तोऽपि, आदिमध्ययोरभावात्।

आदि और मध्य का अभाव होने से अन्त भी दृष्ट नहीं है।

पूर्वपक्ष—लौकिक (सामान्य जन) और परीक्षक (विचारक) दोनों का जिस अर्थ में बुद्धिसाम्य होता है, वह दृष्टान्त होता है। साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से वह द्विविध है।[३]

(२६) नाग्निस्तेजसो दृष्टान्तः, साधर्म्यात्।

सधर्मा होने से अग्नि तेजस् का दृष्टान्त नहीं है।[४]

(२७) नापस्तेजसो दृष्टान्तः, वैधर्म्यात्।

विधर्मा होने से अप् (जल) भी तेजस् का दृष्टान्त नहीं है।

पूर्वपक्ष—

(२८) अल्पसादृश्येन भवेदिति चेत् ? न, सुमेरु-केशवत्।

यदि अल्प सादृश्य के आधार पर दृष्टान्त मान्य होगा, तो सुमेरु और

---

१. जिस अर्थ के लिये व्यक्ति प्रवृत्त होता है, वह 'प्रयोजन' कहलाता है। तथा हि—'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' द्र०—न्यायसूत्र १।१।२४। जैसे कुम्भकार घट के लिये प्रवृत्त होता है, अतः घट 'प्रयोजन' है। इसका खण्डन करने के लिये आचार्य कहते हैं—यदि घट मृत्पिण्ड में सत् (विद्यमान) है, तो तदर्थ प्रवृत्ति निरर्थक है। यदि असत् है, तब भी घटार्थी जैसे बालु में प्रवृत्त नहीं होता, वैसे प्रवृत्ति असम्भव है।

२. जिसमें कार्यनिष्पत्ति की क्षमता होती है, अर्थिजन उसी में प्रवृत्त होते है, अन्य में नहीं, यह बात दृष्टान्तों से सिद्ध है।

३. लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। द्र०—न्यायसूत्र १।१।२५।

४. दृष्टान्त किसी भी साध्य का सर्वांगीण रूप में सधर्मा नहीं होता, अन्यथा तेजस् के भी दृष्टान्त होने का प्रसंग होगा, जबकि वह साध्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केश में भी परस्पर दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव होने लगेगा ।[1]

(२९) साधर्म्यबाहुल्येनापि न, पूर्वनिराकृतत्वात् ।

अधिकांश समानता के आधार पर भी (दृष्टान्त) नहीं हो सकता; क्योंकि इसका पहले ही निराकरण कर दिया है ।[2]

सिद्धान्त-निषेध

पूर्वपक्ष—वस्तुविचार के लिये स्वाभिमत सिद्धान्त होना आवश्यक है ।[3] आपका अपना कोई सिद्धान्त नहीं है। ऐसे सिद्धान्तहीन के साथ हम वाद करना पसन्द नहीं करेंगे ।

(३०) असत्यादावन्तोऽपि न सिध्यति ।

आदि सिद्ध न होने पर अन्त भी सिद्ध नहीं हो सकता ।

(३१) आदौ सिद्धे[4] मध्यान्तौ[5] न सिध्यतः[5] ।

यदि आदि सिद्ध है तो मध्य और अन्त सिद्ध न हो सकेंगे ।

अवयव-निषेध

पूर्वपक्ष—अवयव अवश्य मानना चाहिये, अन्यथा साधन द्वारा साध्य की सिद्धि असम्भव हो जायगी ।[6]

(३२) नावयवाः, अवयव्यभावात् ।

अवयव नहीं है, क्योंकि अवयवी का अभाव है ।

पूर्वपक्ष—संयोग होने पर अवयवी सिद्ध होता है ।

---

१. पर्वत और केश में कुछ अंशों में तो समानता विद्यमान है ही । जैसे—अस्तित्व, साकारत्व, वस्तुत्व, मूर्तत्व, सप्रतिघत्व आदि धर्म दोनों में विद्यमान है ।

२. पूर्व सूत्र (२८) में अल्पसादृश्यता के आधार पर जो दृष्टान्त का निराकरण किया गया है, उसीसे इसका भी निराकरण समझ लेना चाहिये ।

३. सिद्धान्त परिज्ञान के लिये द्रष्टव्य—'तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धांतः' —न्यायसूत्र १।१।२६ ।

४. मूल में 'आदौ सिद्धे' यह पाठ विद्यमान है। किन्तु तिब्बती विद्वान् खनूपो ज्ञन नड् की टिप्पणी में 'आदौ असिद्धे' यह पाठ है ।

५-५. यह अंश स्ववृत्ति में नहीं है, केवल मूल में ही है। इसके अनुसार यदि 'आदि' स्वभावतः सिद्ध है, तो स्वभाव के अपरिवर्तनीय होने के कारण वस्तु के मध्य और अन्त की असम्भवता का प्रसंग होगा ।

६. अवयव के लिये द्रष्टव्य—'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः'—न्याय सूत्र १।१।३२ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३३) संयोगेऽपि न सिध्यति, प्रत्येकस्मिन्नभावत्वात्, अनेकावयवित्व-प्रसंगाच्च ।

अवयवों के संयोग से भी अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक अवयव में अवयवी का अभाव है। (अन्यथा अवयव के समान) अनेक अवयवी होने का प्रसंग होगा।

(३४) सर्वावयवैकत्वं च प्रसज्येत, अवयव्येकत्वात् ।

समस्त अवयवों के एक हो जाने का भी प्रसंग होगा, क्योंकि अवयवी एक है।[1]

(३५) नास्त्यवयवी, कालत्रयेऽप्यसिद्धत्वात् ।

अवयवी (बिलकुल) नहीं है, क्योंकि तीनों कालों में उसकी सत्ता सिद्ध नहीं है।[2]

पूर्वपक्ष--

(३६) बल्वजतृणन्यायेन सिद्धमिति चेत् ?

बल्वजतृणन्याय[3] से (अवयवों में अवयवी) सिद्ध है ?

(३७) न, साध्यसमत्वात् ।

नहीं, (यह भी) साध्य के समान (विचारणीय) है[4]।

---

१. यह प्रसंग उन लोगों के प्रति है, जो अवयवी को अवयवों से अभिन्न मानते हैं। जो अवयवी को भिन्न मानते हैं, उनके प्रति अवयवों से असम्बद्ध और अर्थान्तर अवयवी होने का प्रसंग दिया जाता है। जैसे—अवयवी पाँच अवयवों से भिन्न होगा तो वह उनसे असम्बद्ध छठा पदार्थ होगा—इत्यादि।

२. जब स्वयं त्रैकाल्य की ही सत्ता सिद्ध नहीं है तो उसमें अवयवी की सत्ता का विचार खपुष्प में गन्ध के विचार के समान है। प्रतिज्ञा, हेतु आदि अवयवों की परीक्षा करने पर उनकी तीनों कालों में सिद्धि नहीं हो पाती है, अतः काल की दृष्टि से भी उनकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। (विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य—खन् पो ज्ञन नड् छन्, पृ० ५)।

३. बल्वज एक तृणविशेष है। उसके एक-एक तिनके में कोई सामर्थ्य नहीं होती, किन्तु अनेक तिनकों का संयोग कर देने पर उनसे हाथी आदि भी बाँधे जा सकते हैं, उसी तरह एक-एक अवयव में अवयवी नहीं होता, किन्तु अनेक अवयवों का संयोग होने पर अवयवी की स्थिति हो जाती है।

४. आपका दृष्टान्त साध्यसम है। जैसे—एक अन्धे में रूपदर्शन की क्षमता नहीं होती, वैसे ही हजारों अन्धों के मिलने पर भी रूपदर्शनसामर्थ्य उत्पन्न नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वपक्ष—आपका आक्षेप युक्तियुक्त नहीं है। बल्वज के एक तिनके में भी फतिंगे आदि को बांधने का सामर्थ्य होता है, अनेकों को मिला देने पर हाथी आदि को बांधा जा सकता है।

(३८) न, युक्तिविरहितत्वात्।

(आपका कथन) ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें कोई युक्ति नहीं है।[१]

(३९) अवयविनोऽवयवापेक्षावद् अवयवार्थमप्यवयवसत्त्वप्रसंगः।

जैसे अवयवी के लिये अवयवों की अपेक्षा होती है, वैसे ही अवयवों के लिये भी अवयव होने का प्रसंग होगा।[२]

(४०) प्रतिज्ञातस्तत्त्वान्यत्वाभ्यां न हेतुः।

प्रतिज्ञा से अन्य या अनन्य होने से हेतु सिद्ध नहीं है।[३]

(४१) हेतौ हेत्वभावात्।

हेतु (की सिद्धि) के लिए अन्य हेतु का अभाव है।[४]

(४२) प्रतिज्ञाया हेतोश्चाभावाद् उपनय-निगमने अपि न स्तः।[५]

होता तथा हजारों वन्ध्या स्त्रियों के एकत्र होने पर भी सन्तानोत्पाद सामर्थ्य उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार असमर्थ अनेक अवयवों का संयोग होने पर भी उनमें अवयवी का उत्पाद सम्भव नहीं है।

१. युक्तिहीन इसलिए है, क्योंकि द्रव्यतः भिन्न दो पदार्थों का एकत्वेन सहावस्थान सम्भव नहीं है।

२. पाँच अवयव जो साधन हैं, उनकी सिद्धि के लिए पुनः अवयवों की अपेक्षा होगी। इस तरह अनवस्था दोष होगा।

३. यदि हेतु प्रतिज्ञा से अन्य है तो वह साधन न हो सकेगा अर्थात् उससे साध्य की सिद्धि न हो सकेगी, क्योंकि ऐसी स्थिति में वह साध्य से अत्यन्त असम्बद्ध होगा। जैसे श्वेत से कृष्ण की सिद्धि नहीं होती।

४. यदि हेतु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु की अपेक्षा होगी, तो उसकी सिद्धि के लिये पुनः हेतु अपेक्षित होगा। फलतः अनवस्था दोष होगा। यदि हेतु के लिए अन्य हेतु नहीं है, तो उसके अहेतुक होने का प्रसंग होगा। अर्थात् सब अहेतुक हो जायेंगे।

५. ल्हासा संस्करण में 'उपनय-नियमनयोर्नाभावः' ऐसा पाठ है, किन्तु यह अशुद्ध प्रतीत होता है। हमने जो पाठ दिया है, वह जापानी संस्करण और स्ववृत्ति दोनों से सम्मत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिज्ञा और हेतु के (सिद्ध) न होने से उपनय और निगमन भी नहीं माने जा सकते।

(४३) शेषेसु हेतुर्न स्यात्।

शेष अर्थात् (प्रतिज्ञा और हेतु से अतिरिक्त) उदाहरण आदि की सिद्धि के लिये हेतु के अभाव का प्रसंग होगा।[1]

(४४) हेतुकार्यं सिद्धिरिति चेन्निरर्थकानि दृष्टान्तादीनि।

यदि (साध्य की) सिद्धि हेतु का ही कार्य है तो ऐसी स्थिति में दृष्टान्त आदि (अन्य अवयव) निष्प्रयोजन हो जायेंगे।

(४५) हेतोर्वा निरर्थकत्वम्।

यदि (साध्य की सिद्धि के साधन दृष्टान्त आदि हैं तो ऐसी स्थिति में) हेतु की निरर्थकता होगी।

पूर्वपक्ष—आत्मा आदि (प्रमेयों की) सिद्धि के लिए हेतु, दृष्टान्त आदि आवश्यक हैं?

(४६) नास्त्यात्मा, असिद्धत्वात्।

आत्मा (सर्वथा) नहीं है, क्योंकि वह असिद्ध है।

(४७) अन्यतराभिहितेऽन्याभावान्नास्ति प्रत्येकम्।

(प्रतिज्ञा, हेतु आदि अवयवों में से) एक के कहने पर दूसरे के ग्रहण का अभाव होने से प्रत्येक का अभाव है।[2]

पूर्वपक्ष—प्रतिज्ञा मानने पर तुमको अन्य सब (अवयवादि) मानना पड़ेगा।[3]

---

१. जैसे आप हेतु से प्रतिज्ञा की सिद्धि मानते हैं वैसे यदि मान भी लिया जाय तो अन्य उदाहरण, उपनय, निगमन आदि की सिद्धि के लिए हेतु का अभाव हो जायगा।

२. प्रतिज्ञा, हेतु आदि में से किसी एक के उच्चारण काल में एकमात्र वही बुद्धि में उपस्थित होता है, उस समय अन्य अवयव असिद्ध रहते हैं। अतः सब अवयव में एक अवयवी के रहने का अवकाश ही नहीं है। जब सब अवयव एक दूसरे के काल में नहीं रहते तो वे किस अवयवी के अवयव कहे जा सकते हैं? अर्थात् उनकी अवयव संज्ञा नहीं हो सकती।

३. समस्त अवयवों का अनस्तित्व तुम्हें मान्य है। इस प्रतिज्ञा की स्वीकृति के साथ ही सभी अवयव तुम्हें अर्थतः स्वीकृत हो गये। क्योंकि यदि प्रतिज्ञा सिद्ध है तो तुम्हारे लिए सभी अवयव सिद्ध हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४८) अक्षरेष्वपि तथैव ।

अक्षरों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है ।[1]

तर्क-निषेध

(४९) तर्कोऽपि संशयवदेव ।

तर्क भी संशय के समान ही है ।[2]

निर्णय-निषेध

पूर्वपक्ष—निर्णय अवश्य है, क्योंकि पक्ष, प्रतिपक्ष पर विचार करके किसी अर्थ का अवधारण होता है ।[3]

(५०) नास्ति निर्णयः, द्रव्यत्वसत्त्वैकत्वादीनां तत्त्वान्यत्वोभयथाऽनुपपन्नत्वात् ।

निर्णय भी नहीं है, क्योंकि (घट आदि की) द्रव्यता, सत्ता, एकत्व आदि का उस (घट) से अन्य या अनन्य दोनों होना अयुक्त है[4] ।

---

१. यहाँ प्रतिज्ञा के सन्दर्भ में भी उपर्युक्त युक्ति लागू है । जैसे अवयव-अवयवी की दृष्टि से विचार करने पर प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं होती और अवयवो में अवयवी सिद्ध नहीं होता, उसी तरह 'प्रति' और 'ज्ञा' आदि शब्दों, अक्षरों आदि के मिलने से भी कोई समुदायी सिद्ध नहीं होता । अर्थात् उक्त अवयवों में प्रतिज्ञा नामक कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं है ।

२. न्यायसूत्रकार के अनुसार 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' यह 'तर्क' का लक्षण है । इस विषय में आचार्य नागार्जुन का कथन है कि ज्ञात अर्थ के लिए तर्क अनावश्यक ही है । अज्ञात अर्थ में वह प्रवृत्त हो नहीं सकता, क्योंकि वह उसका गोचर ही नहीं है । कोई तीसरा विकल्प असम्भव है ।

३. 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः' निर्णय के स्वरूपाववोध के लिये द्रष्टव्य-न्यायसूत्र १।१।४१ ।

४. अस्तित्व आदि घट की सत्ता, एकत्व आदि संख्या, पृथुबुघ्नोदरत्व आदि आकार (संस्थान) तथा नील, पीत आदि वर्ण यदि घट से अभिन्न (अनन्य) हैं, तो इनमें से किसी एक अर्थात् एकत्व संख्या के होने पर भी सब के उपस्थित होने का प्रसंग होगा । जैसे-इन्द्र के होने पर त्रिपुरान्तक, मघवा आदि सभी होते हैं । यदि उक्त विशेषण घट से भिन्न (अन्य) हैं, तो घट के अभाव का प्रसंग होगा, क्योंकि वह अस्तित्व आदि सत्ता से अन्य है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाद-निषेध

पूर्वपक्ष—घट आदि के निषेध के लिये प्रवृत्त तुम्हारे द्वारा विपक्ष का परिग्रह किया जाने के कारण 'वाद' अवश्य है[1]।

(५१) नास्ति वादोऽपि, वाच्यवाचकयोरभावात् ।

वाद भी नहीं है, क्योंकि वाच्य और वाचक का अभाव है।[2]

पूर्वपक्ष—'वाद' के लिये संकेतित शब्द ही 'अन्तर्जल्प' है।

(५२) परमार्थविचारस्यैव प्रस्तुतत्वात् ।

यह परमार्थ चिन्तन की अवस्था है। (यहाँ नाम या जल्प आदि संकेत के बारे में बात करना अयुक्त है।[3])

(५३) संकेतकृताभिधानानि नैकविधानि दृश्यन्ते ।

संकेत के द्वारा किये गये नाम अनेक प्रकार के देखे जाते हैं।

(५४) जल्प्यजल्पयोर्नैकविधं प्रयोगं कुर्वाणा दृश्यन्ते लोकविदोऽपि ।

लौकिक विद्वान्[4] जल्प और जल्प्य का अनेकविध प्रयोग करते देखे जाते हैं।[5]

---

१. 'वाद' के लिये द्रष्टव्य—"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः'—न्यायसूत्र १।२।१।

२. यदि घट घटाभिधान (घटान्तर्जल्प) से अभिन्न है तो मृत्पिण्ड, दण्ड, चक्र, कुलाल आदि के बिना भी घट की सिद्धि हो जायगी। यदि भिन्न है तो 'घट' ऐसा संकेत करने पर भी घट में घटबुद्धि प्रवृत्त नहीं हो सकेगी और शब्द संकेत द्वारा घट का निश्चय न होगा। जैसे पट के द्वारा घट का निश्चय नहीं होता।

३. यहाँ ऐसे शब्द, अभिधान आदि संकेतों की व्याख्या का अवसर नहीं है, जिनका विषय कभी भी वस्तुसत् पदार्थ नहीं होता। अर्थात् जो कल्पित विषय के ग्राहक हैं। यहाँ तो प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वों के चिन्तन का अवसर है। जैसे कि आपने प्रतिज्ञा की है—"तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः"—न्यायसूत्र १।१।१।

४. यहाँ लौकिक विद्वान् का तात्पर्य व्याकरण, कोश आदि के ज्ञाता विद्वानों से है, न कि तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले योगियों से।

५. लोक में एक ही संज्ञा (नाम या शब्द) अनेक अर्थों के लिये प्रयुक्त होती है। जैसे—'गो' शब्द पशुविशेष, इन्द्रिय, वाक् आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। तथा एक ही अर्थ अनेक शब्दों द्वारा अभिहित होता है। जैसे-इन्द्र, गोत्रभिद्, पुरन्दर आदि शब्दों द्वारा एक ही अर्थ अभिहित होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५५) एकानेकत्वाभ्यां नास्ति सिद्धिर्वाच्यवाचकयोः ।

अभिधान और अभिधेय (या जल्प और जल्प्य) न एक (अभिन्न) और न अनेक (भिन्न) रूप में सिद्ध हैं।

जल्प-वितण्डा निषेध

(५६) तथैव जल्पवितण्डे अपि ।

वैसे (वाद आदि के समान) ही जल्प और वितण्डा भी असिद्ध हैं ।[1]

हेत्वाभासनिषेध

पूर्वपक्ष—आपके सभी हेतु हेत्वाभास हैं ।[2]

(५७) न सन्ति हेत्वाभासाः, साधर्म्यवैधर्म्याभावात् ।

हेत्वाभास (भी सिद्ध) नहीं हैं, क्योंकि साधर्म्य और वैधर्म्य का अभाव है ।[3]

---

१. न्यायसूत्रकार के मतानुसार 'जल्प' का लक्षण इस प्रकार है—यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः'–द्रष्टव्य न्यायसूत्र–१।२।२ ।

वितण्डा के लिये द्रष्टव्य—'स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा'—न्यायसूत्र १।२।३ ।

आचार्य नागार्जुन का कहना है कि जिस युक्ति से 'वाद' का निषेध किया गया है, उससे जल्प और वितण्डा भी असिद्ध हो जाते हैं । जैसे—अभिधान (वाचक) और अभिधेय एकत्वेन, अनेकत्वेन अथवा उभयत्वेन सिद्ध नहीं हैं, वैसे ही जल्प और जल्प्य भी उक्त विधि से परीक्षा करने पर असिद्ध हैं । इसी तरह वितण्डा भी प्राप्त परपक्ष का निषेध करता है या अप्राप्त का—ऐसी परीक्षा करने पर कुछ भी उपलब्ध न होने से असिद्ध हो जाता है । फलतः जल्प और वितण्डा दोनों ही 'वाद' के समान असिद्ध हैं ।

२. हेतु का लक्षण न घटने से वस्तुतः अहेतु ही जब हेतुसादृश्य के कारण हेतु के समान आभासित होते हैं, तो 'हेत्वाभास' कहलाते हैं । ये पाँच हैं, जैसे—सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः' । द्रष्टव्य-न्यायसूत्र १।२।४ ।

३. हेत्वाभास पर विचार तभी सम्भव है, जब साधर्म्य, वैधर्म्य और उनका अधिकरण स्वभावतः मान्य हों । ये ही आधारभूत हैं । इनके अभाव में विचार व्यर्थ होगा । किन्तु परीक्षा करने पर इनकी स्वभावतः सिद्धि नहीं होती । अपि च–हेतुत्व का आत्मलाभ होने से जो हेतु है, वह कभी हेत्वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५८) व्यभिचाराभावेऽव्यभिचारित्वम् ।

जिसमें व्यभिचार का अभाव है, वही अव्यभिचारी होता है ।[१]

(५९) सव्यभिचारो हेतुर्भवतीति चेत् ? न, तेषां तदन्यत्वात् ।

पूर्वपक्ष—व्यभिचार से युक्त हेतु तो होता है ? नहीं, वे सब एक-दूसरे से भिन्न हैं ।[२]

(६०) क्षणिकत्वात् ।

(यदि किसी की स्थिति सिद्ध हो, तो साधन, दूषण आदि की व्यवस्था की जा सकती है, किन्तु ऐसा नहीं है) क्योंकि सब क्षणिक हैं ।[३]

पूर्वपक्ष—

(६१) त्वदुक्ताः सर्वे हेतवो विरुद्धाः, न तु सव्यभिचाराः ।

आपके द्वारा कथित सभी हेतु विरुद्ध हैं, न कि सव्यभिचारी ।[४]

भास नहीं हो सकता, जैसे वास्तविक सुवर्ण सुवर्णाभास नहीं होता तथा जो हेतुस्वभाव से प्रच्युत है, वह कभी भी हेतु के समान नहीं हो सकता, जैसे मृत्पिण्ड स्वर्णाभास नहीं हो सकता ।

१. यदि हेतु के स्वभाव में व्यभिचार नहीं है, तो वह कभी भी सव्यभिचारी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करता। यदि स्वभाव का त्याग कर देता है तो वह हेतु ही नहीं हो सकता । ऐसी स्थिति में उसका सव्यभिचारी होना असम्भव है ।

२. पूर्वपक्षी का आशय है कि 'अमूर्त्तत्व' सव्यभिचारी हेतु है, क्योंकि वह नित्य आकाश और अनित्य कर्म (उत्क्षेपण आदि) दोनों में रहता है । इसी तरह 'सामान्य' (जाति) और 'विशेष' भी सव्यभिचारी हैं, क्योंकि वे नित्य परमाणु और अनित्य घट आदि में विद्यमान होते हैं । उत्तरपक्षी के अनुसार यह युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि आकाश की भाँति अनुत्पन्न धर्मों में विद्यमान अमूर्त्तत्व, कर्म, बुद्धि आदि उत्पन्न धर्मों में नहीं रह सकता । वस्तुतः वे मूलतः भिन्न-भिन्न हैं ।

३. यहाँ यह वि ारणीय है कि साध्य या दूष्य पदार्थ नाशस्वभाव है कि नहीं ? यदि क्षणभंगुर हैं तो उनके लिये साधन या दूषण का प्रयोग व्यर्थ है । यदि वे नाशस्वभाव नहीं हैं तो स्वतः सिद्ध होंगे, ऐसी स्थिति में उनके लिये साधन या दूषण निष्प्रयोजन होंगे ।

४. आपके सारे हेतु अभ्युपेतार्थ के विरोधी हैं । अतः परस्पर विरोधी साध्य के साधन हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(६२) न विरुद्धत्वम्, पूर्वापरभावात् ।

पूर्व और अपर भाव होने से विरुद्धत्व दोष नहीं है ।[१]

(६३) अतीतस्त्वतीतः, अतीतस्यातीतत्वात् ।[२] [३]नास्त्यतीतानामतीतत्वम्[३] ।

अतीत तो अतीत ही है, क्योंकि अतीत में अतीतत्व होता है। अतीतों में अतीतत्व नहीं है ।[४]

(६४) सर्वंजल्पाकाराणामभावप्रसंगाच्च ।

(अतीत और अनागत में जब घट नही है तो वर्तमान में भी उसकी स्थिति नहीं हो सकती, फलतः) समस्त जल्पाकारों के अभाव का प्रसंग होगा ।[५]

(६५) अतीतो हेतुः कालो वा नास्ति, असम्भवात् ।

अतीत हेतु अथवा अतीत काल नहीं है, क्योंकि उनका होना असम्भव होगा ।[६]

---

१. पक्ष और प्रतिपक्ष में पूर्वापरभाव होता है। जब पूर्व के समय 'पर' नहीं और पर के समय 'पूर्व' नहीं, तो उनमें विरोध के लिये अवसर ही नहीं है।

२. यहाँ पूर्वपक्षी का आशय यह प्रतीत होता है कि आपने पूर्व-अपर काल की दृष्टि से जो खण्डन किया है, वह युक्त नहीं, क्योंकि "कालातीत" नामक भी एक हेत्वाभास होता हैं। जैसे कहा गया है—"कालात्ययापदिष्टः कालातीतः" द्रष्टव्य न्यायसूत्र १।२।९ ।

३-३ "ख" संस्करण में यह पाठ नहीं है।

४. यदि अतीत की निरपेक्ष सत्ता मान्य होगी तो अनागत और वर्तमान को भी निरपेक्ष मानना होगा। फलतः तीनों की एककालिक सत्ता का प्रसंग होगा। यदि तीनों काल परस्पर सापेक्ष होंगे, तब भी सापेक्षता के लिये सहभाव अपेक्षित होगा, जो कि असम्भव है। पुनश्च स्वभाव से प्रच्युत अतीत को न किसी की अपेक्षा हो सकती है और न उसका किसी से सम्बन्ध ही हो सकता है।

५ जल्पाकार से तात्पर्य अभिधानाभिधेयाकार या वाक्यवाचकाकार से है। अतीत आदि समस्त धर्म यदि निरपेक्ष होंगे तो अक्षर, पद, वाक्य आदि सभी सापेक्ष वाच्य-वाचक आदि के अभाव का प्रसंग होगा। यदि सापेक्ष होंगे, तो इसका खंडन पहले किया जा चुका है। द्रष्टव्य—"सतः असतः सद्सतश्च न सापेक्षत्वम्"—वैदल्यसूत्र-३ पृ० २८ ।

६. आत्मभाव से प्रच्युत धर्म अतीत कहलाता है। ऐसा धर्म, चाहे वह काल हो चाहे हेतु उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छल-निषेध

पूर्वपक्ष—

(६६) त्वद्वचनमशेषं छलमात्रम्, न सत्यम् ?
न, समस्तोत्तरेष्वयं प्रसंगः स्यात् ।

तुम्हारे समस्त वचन 'छल' मात्र हैं, इनमें सत्यता नहीं है ?[1] नहीं, सभी उत्तरों में इसी स्थिति का प्रसंग होगा ।

जातिनिषेध

पूर्वपक्ष—साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा प्रयुक्त हेतु का प्रतिषेध करना 'जाति' है । वह अवश्य है ।[2]

(६७) नास्ति जातिः, जाताजातोभयत्वाभावात् ।

जाति (नामक पदार्थ) नहीं है, क्योंकि जात, अजात और उभय (जाताजात) धर्म का अभाव है ।

पूर्वपक्ष—आप केवल पुनरुक्तिमात्र का व्यवहार करते हैं, अतः निग्रहस्थान की प्राप्ति के योग्य हैं ।[3]

(६८) पूर्वापरयोरेकतरस्यान्यस्मिन्नभावात् ।

नही, पूर्व और अपर में एक का दूसरे में अभाव है ।[4]

निग्रहस्थान-निषेध

(६९) निग्रहस्थानमपि तथैव ।

---

१. 'छल' के लिये देखिये—"वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्" । न्यायसूत्र १।२।१० ।

२. 'जाति' के स्वरूपाववोधार्थ द्रष्टव्य—"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ।"—न्यायसूत्र १।२।१८ ।

३. निग्रहस्थान के लिये द्रष्टव्य—विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।" न्यायसूत्र १।२।१९ । तथा निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः—न्यायसूत्र १।२ १९ पर भाष्य ।

४. आपने हम पर पुनरुक्तिदोष लगाया है । इस पर हमारा कहना है कि बार-बार प्रयुक्त वाक्य 'पुनरुक्ति' कहलाता है । प्रश्न है कि पूर्व और अपर वाक्य 'एक' हैं या भिन्न-भिन्न ? यदि एक हैं तो पुनरुक्ति दोष नही है । यदि भिन्न हैं, तब भी वह दोष नहीं है, क्योंकि एक ही का पुनः पुनः कथन वीप्सा होता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निग्रहस्थान भी वैसा (जाति के समान असिद्ध) ही है।[१]

(७०) निग्रहस्थानं न निग्रहः, यथा बन्धनम्।

निग्रहस्थान (स्वयं) निग्रह नहीं, जैसे (वन्धनस्थान) बन्धन नहीं है।[२]

उपसंहार

पूर्वपक्ष—यदि आपके मतानुसार प्रमाण, प्रमेय आदि कुछ भी नहीं हैं, तो आपने जो समस्त पदार्थों का निषेध किया है, वह भी असिद्ध है ?

(७१) उभयोरनभ्युपगमात् तयोरसिद्धावसिद्धिरेव।

प्रतिषेध और प्रतिषेध्य दोनों हमें स्वीकार नहीं हैं। फलतः उनकी असिद्धि से समस्त असिद्ध ही हैं।

(७२) एवमपि नाभिधीयते,[३] अभिधेयाभावात्।

प्रतिषेध और प्रतिषेध्ध के अभाव को भी हम नहीं कहते, क्योंकि अभिधेय का ही अभाव है।[४]

कृतिरियमार्यनागार्जुनपादानाम्।

वैदल्यसूत्रं समाप्तम्

आचार्य नागार्जुन की कृति वैदल्यसूत्र समाप्त हुआ।

काश्मीरी पण्डित आनन्द और लोचावा (तिव्वती अनुवादक) गॅलोड् ङग्स जोर् शेरब का तिब्बती में अनुवाद समाप्त।

शुभं भूयात्

---

१. निग्रहस्थान के खण्डन के लिये भी उसी युक्ति का प्रयोग करना चाहिये, जिससे जाति का निषेध किया गया है। निगृहीत, अनिगृहीत तथा निगृहीतानिगृहीत (निगृह्यमाण) तीनों के लिये निग्रहस्थान युक्त नहीं है।

२. जैसे वन्धनस्थान (कारागार) स्वयं वन्धन नहीं है, उसी तरह निग्रहस्थान या पराजयप्राप्ति स्वयं निग्रह (पराजय) नहीं है।

३. स्ववृति में "नाभिधीयते" पाठ उपलब्ध होता है, किन्तु यह अनुवाद की त्रुटि प्रतीत होती है। क्योंकि मूल के दोनों संस्करणों और खन्-पो-जन-नङ् की टिप्पणी में उक्त पाठ उपलब्ध होता है तथा प्रसंग के अनुसार भी यही समुचित प्रतीत होता है।

४. अभिधान और अभिधेय की निरपेक्ष अथवा सापेक्ष किसी भी तरह की सत्ता नहीं मानी जा सकती। अतः उनका भी अस्तित्व वैसा ही है, जैसे-प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों का।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. स्ववृत्ति (वैदल्यसूत्र)	तिब्वती तंग्युर
२. ग्यलछबजे की टीका	सुङ्बुम तिब्वती
३. खनपो जन नङ् उपटीका	तिब्वती सुङ्बुम्
४. विग्रहव्यावर्तनी	मूल संस्कृत
५. मूल माध्यमिक कारिका,	,, ,,
६. चोङ्खापा सुमतिकीर्ति कृत टीका	तिब्वती, सुङ्बुम्
७. जम्-जद डुवथा	,, ,,
८. ,, उसकी स्ववृत्ति	,, ,,
९. जम जद् डुवथा की टिप्पणी	तिब्वती, (खलखक जोजे कृत)
१०. न्यायसूत्र,	संस्कृत
११. न्यायवार्तिक	संस्कृत
१२. तात्पर्यटीका	संस्कृत
१३. तात्पर्यपरिशुद्धि	,,
१४. चरकसंहिता	,,
१५. न्यायभाष्य	,,
१६. चरकसंहिता टीका (आयुर्वेद दीपिका)	,, (चक्रपाणिदत्त कृत)
१७. ,, हिन्दी व्याख्या (तन्त्रार्थदीपिका)	हिन्दी (जयदेवविद्यालङ्कार कृत)
१८. चङ् क्या डुवथा	तिब्वती (चङ्क्या रोलपाईदोर्जे कृत)
१९. मध्यमकावतार की स्ववृत्ति	तिब्वती अनुवाद
२०. चतुःशतक (१६वाँ परिच्छेद)	संस्कृत
२१. ज्ञानसारसमुच्चयवृत्ति	तिब्वती (तंग्युर)
२२. न्यायसूचीनिबन्ध	संस्कृत (वाचस्पतिमिश्र कृत)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नागार्जुन के नाम से उपलब्ध ग्रंथों की सूची

स्तुति वर्ग

१. धर्मधातुस्तव:
२. निरुपमस्तव:
३. लोकातीतस्तव:
४. चित्तवज्रस्तव:
५. परमार्थस्तव:
६. कायत्रयस्तोत्रविवरणम्
७. कायत्रयस्तोत्रम्
८. सत्वाराधनास्तव:
९. प्रज्ञापारमितास्तोत्रम्
१०. अचिन्त्यस्तव:
११. अतिस्तवस्तव:
१२. निरुत्तरस्तव:
१३. आर्यभट्टारकमंजुश्रीपरमार्थस्तुति:
१४. आर्यमंजुश्रीकरुणास्तोत्रम्
१५. अष्टमहास्थानचैत्यस्तोत्रम् (क)
१६. अष्टमहास्थानचैत्यस्तोत्रम् (ख)
१७. द्वादशकार्यस्तोत्रम्
१८. वन्दनास्तोत्रम्
१९. नरकोद्धारिकस्तोत्रम्

तन्त्रवर्ग

२०. समाधिभाष्यटीका
२१. कक्ष्यपदम्
२२. तारासाधनम्
२३. सामान्यतारासाधनाविधि:
२४. संक्षिप्ततारासाधनाविधि:
२५. सप्रज्ञश्रीमहाकालसाधना
२६. श्रीमहाकालसाधना
२७. श्रीमहाकालाष्टपदस्तोत्रम्
२८. श्रीमहाकालाष्टमन्त्रस्तोत्रम्
२९. श्रीगुह्यसमाजतन्त्रस्य तन्त्रटीका
३०. अष्टादशपटलविस्तारव्याख्या
३१. पिण्डीकृतसाधना
३२. श्रीगुह्यसमाजमहायोगतन्त्रोत्पत्तिक्रमसाधनासूत्रमेलापकम्
३३. श्रीगुह्यसमाजमण्डलविधि:
३४. अभिषेकचतु:प्रकरणम्
३५. बोधिचित्तविवरणम् (क)
३६. बोधिचित्तविवरणम् (ख)
३७. पञ्चक्रम:
३८ वज्रपाण्यष्टांगमार्ग:
३९. चण्डवज्रक्रोधदेवपंचानां मंडलविधि:
४०. तत्वप्रदीपो नाम वज्रपाणिसर्वसाधनपूर्णालंकार:
४१. आर्यवज्रपाणिनीलाम्वरधरमंडलविधि:
४२. मन्त्रालंकारसाधनम्
४३. प्रतिष्ठालंकार:
४४. भवसंचर:
४५. नागार्जुनगानम्
४६. स्वभावासिद्धिर्नामोपदेश:
४७. अभिषेकक्रमनिदेश:
४८. स्थूलपतितम्
४९. पापसप्तांगम्
५०. वज्रयानस्थूलपतितम्,
५१. अष्टपतितम्
५२. आर्यनीलाम्वरवज्रपाणिकल्पविधिर्नाम धारणीटीका
५३. मंजुश्रीवज्रप्रज्ञावर्द्धनम्
५४. आर्यावलोकितेश्वरसहस्रभुजसाधनम्
५५. आर्यावलोकितेश्वरषडक्षर साधनम्
५६. लोकेश्वरसाधनम्
५७. प्रायश्चितामृतम्
५८. वज्रपवित्रनामकर्मसमूह:
५९. सप्तांगसाधनम्
६०. नीलाम्वरधारोपसिद्धि:
६१. एकवीरसाधनाभाष्यम्
६२. महाविद्याप्रत्यनुगमिनीचक्रचित्तशोधनम्
६३. मुक्तकेन तारोद्भवकुरुकुल्लीसाधनम्
६४. कल्पोक्तकुरुकुल्लीसाधनम्
६५. वज्रतारासाधनम् (क)
६६. ,, ,, (ख)
६७. ,, ,, (ग)
(एक ही नाम से भिन्न तीन ग्रन्थ)
६८. नागेश्वरराजसाधनम्
६९. खदिरवनतारासाधनम्
७०. निष्कामप्रदीप:
७१. नानातन्त्रोद्धृतो बलिविधि:

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रवर्ग

७२. प्रज्ञा नाम मूलमध्यमककारिका
७३. युक्तिषष्ठिका
७४. वैदल्यसूत्रम्
७५. शून्यतासप्तति:
७६. विग्रहव्यावर्तनी
७७. अकुतोभयटीका
७८. वैदल्यप्रकरणम्
७९. शून्यतासप्ततिवृत्ति:
८०. विग्रहव्यावर्तनीवृत्ति:
८१. महायानविंशिका
८२. अक्षरशतकम्
८३. अक्षरशतिका नाम वृत्ति:
८४. प्रतीत्यसमुत्पादहृदयकारिका
८५. प्रतीत्यसमुत्पादहृदयव्याख्यानम्
८६. अबुद्धबोधकं नाम प्रकरणम्
८७. असूतरत्नकोष:
८८. भवसंक्रान्ति:
८९. स्वभावत्रयप्रवेशसाधनम्
९०. भावनाक्रम:
९१. सूत्रसमुच्चय:
९२. बोधिचित्तोत्पादविधि:
९३. आर्यशालिस्तम्बकारिका
९४. आर्यशालिस्तम्बमहायानसूत्रटीका
९५. बोधिपतितदेशनावृत्ति:
९६. आर्यभद्रचर्या नाम प्राणिधानराज-निबन्धनम्
९७. आर्यधर्मधातुगर्भविवरणम्
९८. आर्यमूलसर्वास्तिवादिश्रामणेर-कारिका
९९. दशदीक्षाविधि:

वार्तावर्ग (कथा)

१००. राजपरिकथारत्नावलि:
१०१. स्वप्नचिन्तामणिपरिकथा
१०२. दानपरिकथा
१०३. भवसंक्रान्तिपरिकथा
१०४. सुहृल्लेख:

नाना वर्ग

१०५. योगशतकम्
१०६. जीवसूत्रम्
१०७. अवौषधविधि:
१०८. धूपसंयोजनाविधि:
१०९. धूपसंयोजनौषधविधि:
११०. प्रज्ञाशतिकं नाम प्रकरणम्
१११. प्रज्ञादण्डं नाम नीतिशास्त्रम्
११२. पुरुषव्यसुजन्तुबिन्दु:
११३. गुह्यगाम्भीर्यम्
११४. वज्रप्रणिधानम्
११५. बोधिसम्भवप्रणिधानम्
११६. प्रणिधानम्
११७. रत्नावल्यां विंशतिकप्रणिधानम्
११८. त्रिरत्नद्वादशकार्य-मंगलगाथा
११९. मंगलचिह्नम्
१२०. रत्नराजप्रणिधानम्
१२१. महाकारुणिकार्यतारासाधनम्
१२२. समयसामान्यविधि:
१२३ चतुर्मुद्रनिश्चय:
१२४. धर्मगाथापंचकम्
१२५. प्रज्ञापारमितासाधनम्
१२६. सार्धपंचगाथा
१२७. वज्रपवित्रकर्मसंधारा
१२८. हयग्रीवसाधनम्
१२९. कल्याणकामधेनु:

नोट : कुछ ग्रन्थ, ९–१० के लगभग, प्राप्त नहीं हो सके हैं। यदि प्राप्त हो जायेंगे तो अगले संस्करण की सूची में संलग्न हो सकेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi